

## संस्कृति की अवधारणा

(क) अर्थ निरूपण : संस्कृति बहुत व्यापक शब्द है। इसका अर्थ अनेक आयामों में व्यवहृत होता है। मानव जब से धरती पर आया है, उसने सतत् अपना विकास किया है। यह मनुष्य की जिजीविषा शक्ति है जो उसे अनेक आयामों में विस्तार देती है। मनुष्य प्रकृषि से संघर्ष करता है उस संघर्ष के साथ वह अपना परिष्कार भी करता है। वह जिस परिवेश में होता है, परिवेश के सापेक्ष अपनी शक्ति का विस्तार करता है। इस शक्ति के विकास के साथ उसके 'स्व' का विकास होता है। इस 'स्व' विकास के साथ सामाजिक परिवेश जुड़ जाता है। सामाजिक परिवेश के जुड़ते ही वह अपना परिष्कार प्रारंभ कर देता है, जब वह जन्म लेता है तब वह केवल जीव होता है, जीव जब समाज में बंधता है तब वह सामाजिक प्रतिबन्धों को स्वीकार करता है, उसके बन्धन को प्राचीन सन्तों ने माया कहा है जो वास्तव में उसकी विकास शक्ति है। तुलसीदास ने रामचरितमानस में कहा है –

'भूमि परत भा ढाबर पानी। जिमि जीवहिं माया लपटानी'।

वस्तुतः जीव से मनुष्य बनने की प्रक्रिया में सामाजिकता का अनिवार्य एवं महत्वपूर्ण योगदान होता है। इस सामाजिकता के अन्तर्निहित तत्व को संस्कृति कहते हैं। मनुष्य एक ओर सामाजिक समायोजन की प्रक्रिया शुरू करता है दूसरी ओर उसके भीतर संस्कृति का विकास प्रारंभ होता है। संस्कृति मानवीय व्यक्तित्व की वह विशेषता या विशेषताओं का समूह है जो उस व्यक्तित्व को खास अर्थ में महत्वपूर्ण बनाता है। यहां 'खास अर्थ' की व्यंजना को समझना आवश्यक है। किसी पुरुष या स्त्री का महत्व उन गुणों के कारण भी हो सकता है जो मुख्यतः प्रकृति की देन है, जैसे स्वास्थ्य और शारीरिक सौन्दर्य। किन्तु ये गुण विशिष्ट रूप में सांस्कृतिक गुण नहीं हैं; सुन्दर और स्वास्थ्य स्त्री-पुरुष असंस्कृत भी हो सकते हैं। वस्तुतः संस्कृति उन्हीं गुणों का समुदाय है, जिन्हें मनुष्य अनेक प्रकार की शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है।

1. तुलसीदास : रामचरितमानस, किष्किन्धा काण्ड

यहां यह तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि स्व के विकास के साथ संस्कृति का विकास प्रारंभ होता है। तत्त्वतः स्व की अवधारणा सांस्कृतिक विकास का वह केन्द्र बिन्दु है जहां से संस्कृति के आयाम विवृत होते हैं। स्व के अध्ययन ने मनोवैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट किया है उनके अनुसार 'स्व' बोध से 'आत्म गौरव' का जन्म होता है। इससे स्व-दक्षता उत्पन्न होती है। भारतीय संस्कृति में इस पर विशेष रूप से गहराई से विचार किया गया है। भारतीय सांस्कृतिक परिवेश परिवेश में निरन्तरता तथा परिवर्तन दोनों तत्त्वों के सापेक्ष 'स्व' के विकास का आकलन किया गया है। भारतीय समाज के लोगों में 'स्व' परिष्कार की भावना प्रारंभ से लेकर अब तक विद्यमान है। लोगों के चेतना में वैदिक ऋचाएं, कर्मकाण्ड तथा महाकाव्यों के चरित्र अब भी जीवन्त हैं। यहां के लोगों के स्व का विकास विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं के घुलने मिलने से दूसरे सांस्कृतिक समूह; जैसे आर्य द्रविण, शक, हूण, मुस्लिम आदि के कारण स्व का व्यापक विकास हुआ है। अंग्रेजों के आगमन से भी 'स्व' में एक प्रकार की व्यापक चेतना पैदा हुई है। हमारे आत्मा एवं 'अहंकार' जैसे सम्प्रत्ययों का विवेचन दर्शन में किया गया है। इसमें आत्मा स्वतंत्र तथा गैर भौतिक तत्त्व रूपी वास्तविक 'स्व' का बोध साक्षात्कार है तथा अहंकार अपने वास्तविक स्वरूप की अज्ञानता के कारण स्वयं को बढ़ा-चढ़ाकर प्रदर्शित करता है। जीवन (सांसारिक अनुभवों से सम्बद्ध भोक्ता) तथा ब्रह्म (परम तत्त्व या सत्ता) का द्वैत भाव पाया जाता है परन्तु जीवात्मा या आत्मा परम तत्त्व। सत्ता या ब्रह्म का एक अंश है, इस पर भी बल दिया जाता है। स्व की भारतीय अवधारणा मनुष्य के दैहिक, सामाजिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक पक्षों को अपने में समाविष्ट करती है। भारतीय सन्दर्भ में स्व भी अवधारणा मनुष्य के माडल के आधार पर समझा जा सकता है। राम चरण त्रिपाठी ने एक रोचक विश्लेषण में निम्नलिखित की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।

(1) स्व को एक असह भागी तथा साक्षी के रूप में देखा जाता है।

1. मनोविज्ञान परिचय, भाग दो, एन0सी0आर0टी0, पृष्ठ-35।

(2) स्व की पृथक सत्ता नहीं है अर्थात् अन्य लोगों से अलग स्व का अस्तित्व नहीं है। यह सभी के साथ मिलकर कार्य करता है।

- (3) स्व अधिक निर्भरता वाले परिवेश के अन्दर ही कार्य करता है।
- (4) ब्रह्माण्ड में भी मनुष्यों की तरह चेतनायुक्त जीवन की सभी विशेषताएं देखी जाती हैं।
- (5) परिवर्तन तथा विकास सीधी रेखा में नहीं होते हैं।

स्व की भारतीय व पश्चिमी अवधारणा में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर स्व तथा परिवेश के बीच सीमा रेखा का निर्धारण है, पश्चिमी मानस में ये सीमा रेखाएं लगभग अपरिवर्तनीय या दृढ़ हैं। जब कि भारतीय जनमानस ऐसी सीमा रेखाओं से नियंत्रित या निर्देशित होता है जो निरन्तर बदलती रहती है। अतः भारतीय व्यक्ति के लिए स्व कभी-कभी विस्तृत होकर परिवेश में मिलकर एकाकार हो जाता है। परन्तु अगले ही क्षण वह उससे पूर्णरूपेण अलग हो जाता है। इसके विपरीत पश्चिमी दृष्टिकोण स्व तथा अन्य मनुष्य और प्रकृति, आत्मनिष्ठ एवं वस्तुनिष्ठ के बीच विभाजन को पूर्ण मानता है। यह भारतीय लोगों के लिए, जो ऐसे स्पष्ट विभाजन को नहीं मानते हैं। पश्चिम में स्वत तथा समूह दो भिन्न तत्वों के रूप में लिए जाते हैं। इनमें से प्रत्येक की अपनी निश्चित सीमा रेखा होती है। भारतीय सन्दर्भ में स्व तथा निज समूह दोनों की सीमा-रेखा परिवर्तनशील मानी जाती है। स्व, निज-समूह होता है। हालांकि इस तथ्य का कि स्व समूह में समाहित है, यह अर्थ नहीं है कि व्यक्तिवादी बनाम समूह वादीरूझान के सन्दर्भ में भारतीय मानस पश्चिमी मानस से भिन्न है। भारतीय लोग दोनों ही प्रवृत्तियों के सह अस्तित्व का प्रदर्शन करते हैं।

यहां यह जानने योग्य है कि स्व का विकास संस्कृति विकास का मूल मानक है।

जब 'हम' के विकास पर विचार करना प्रारंभ करते हैं, तो भारतीय चिन्तन की विशेष पृष्ठ भूमि महत्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय है। संस्कृति का अर्थ है स्व का विकास। भारतीय संस्कृति में स्व के विकास अति सूक्ष्म विवेचन है। इसमें एक बहुस्तरीय या कई पतों वाले पदानुक्रम श्रेणीबद्ध संगठन के रूप स्व का विकास दिखाया गया है— तैतिरीयोपषिद् में कहा गया है कि जीव एक बहुस्तरीय तत्व है। जीव की पांच पतें हैं, जिसमें कोश या आवरण एक-दूसरे में आबद्ध

रहते हैं। यह प्याज संकेंद्रित आवरणों (छिलकों, की तरह है। स्थूल भौतिक शरीर अन्न से उत्पन्न माना जाता है। यह अन्नमय कोश कहलाता है।)

इसमें जीवन को धारण करने वाला स्व पाया जाता है इसके बाद 'प्राणमय कोश' है। इससे श्वसन तथा अन्य चयापचय की क्रियायं संचालित होती हैं जो शरीर के अंगों को क्रियाशील तथा कार्यरत रखती हैं। इसके बाद तीसरी पर्त मानसिक आवरण (मनोमय कोश) कही जाती है जिसमें ज्ञानेन्द्रियां शामिल हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि विषय वासना (कामना) की पूर्ति का प्रयास इंद्रियजन्य अनुभवों के माध्यम से होता है। इस आवरण या कोश को अहं के लिए संघर्ष का अधिष्ठान माना जाता है तथा इसकी अभिव्यक्ति संलग्नता या रुचियों के रूप में होती है। अगली पर्त संज्ञानात्मक आवरण है (विज्ञानमय कोश)। इसमें विचार, तथा सम्प्रत्यय आदि शामिल हैं जो इस संसार को जानने—समझने में प्रयुक्त होते हैं। सबसे अन्दर की पर्त या स्तर को आनंद का आवरण कहते हैं। (आनन्दमय कोश) क्योंकि यह परमानंद या परम सुख को प्रदर्शित करता है<sup>2</sup> जो वास्तविक स्व (आत्मन्) की मूल विशेषता है। ऊपर निरूपित कोशों की अवधारणा स्थूल तत्वों से प्रारंभ होकर सूक्ष्म तत्वों की ओर बढ़ता हुआ एक अनुक्रम या श्रेणीबद्ध संगठन है। आत्म (स्व) और अनात्म (गैर—स्व) के बीच एक तात्विक निरन्तरता भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्म और अनात्म के बीच सीमा निर्धारित करने वाली रेखा अपरिवर्तनीय नहीं है। भिन्न—भिन्न अवसरों पर 'स्व' थोड़े या अधिक तत्वों का समावेश कर सकता है।

संस्कृतिक के सन्दर्भ में हम सूफी संस्कृति जो आत्मा (स्व) के विकास का अध्ययन प्रस्तुत करती है उल्लेखनीय हैं। सूफीवाद का प्रयास है लोगों को सरल व सुव्यवस्थित जीवन व्यतीत करने में सक्षम बनाना।

यह सिखाता है कि अहंकार तथा अपरिहार्य रूप से होने वाला संघर्ष मूर्खता है तथा इस संसार (ब्रह्माण्ड) का सार तत्व रुहानी (आत्म या चेतन स्वरूप) या आध्यात्मिक है। यह मनुष्य को एक मनोधार्मिक जीव के रूप में देखता है जो अपने जीवन का प्रारंभ प्रकृति के साथ अचेतन एकात्मकता में

1. तैत्तिरीयोपनिषद (इशादि नो उपनिषद्) — द्वितीय अध्याय, पृ0 375, गीता प्रेस।
2. मनोविज्ञान परिचय—2, एन0सी0आर0टी0, पृष्ठ—36।

करता है विकास के क्रम में अपने को प्रकृति से अलग कर लिया तथा दुःख, काल तथा दिशा (स्थान) का अनुभव किया। सूफीवाद एक व्यक्ति की अपनी स्वाभाविकता या अपने मूल स्वरूप

से सामंजस्य स्थापित करना है। यह एक आन्तरिक अनुभव है जो अपने अभीष्ट विषय, जिसे अपने परमप्रिय प्रेयसी या आदर्श अहं (स्व) भी कहा जाता है, तादात्म्य (सारूप्य) स्थापित करता है। यह हृदय (मन) तथा नियत की शुद्धता पर बल देता है। यह माना जाता है कि जब 'मैं' 'तू' या 'वह' बन जाता है तब द्वैत एकत्व या अद्वैत में परिवर्तित हो जाता है। इसमें इच्छा शक्ति या संकल्प शक्ति की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है। वस्तुतः आत्मनियंत्रण जो प्रत्येक संस्कृति की महत्वपूर्ण अवधारणा है। आत्मनियंत्रण आत्मसंतुष्टि को टाल देने की क्षमता को विकसित करना है। इसे व्यापक अर्थ में ग्रहण करने पर सांस्कृतिक विकास के आयाम विकसित होते हैं।

भारतीय संदर्भ में व्रत, उपवास, रोजा, तथा तपस्या पर बल दिया जाता है। जितेन्द्रिय (एक व्यक्ति जिसका अपनी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों पर नियंत्रण रहता है) तथा अपरिग्रह (न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सीमित वस्तुओं को रखना) की अवधारणाएं भी इसी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं। आन्तरिक अवस्था या स्थिति पर नियंत्रण बायोफीड बैक, जेन, योग, ध्यान तथा स्व-सूचन इत्यादि की सहायता से संभव है।

उपर्युक्त समस्त स्थापनाएं संस्कृति के अर्थ से जुड़ी हुई हैं। जैसा ऊपर स्व का विकास दिखाया गया है, उसका उद्देश्य मानव की उदात्त चेतना का विकास है। इस चेतना का विकास समाज या जाति में होता है। समाज में मानव मूल्य स्थापित होते हैं। यह मानव मूल्य शिष्ट समाज द्वारा स्थापित होता है। हम साधारण शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं— संस्कृति किसी एक समाज में पायी जाने वाली उच्चतम मूल्यों की वह चेतना है, जो सामाजिक प्रथाओं, व्यक्तियों की चित्तवृत्तियों, भावनाओं, मनोवृत्तियों, आचरण के साथ-साथ उसके द्वारा भौतिक पदार्थों को विशिष्ट रूप दिये जाने में अभिव्यक्त होती हैं।

1. डॉ० आबिद हुसेन : भारतीय संस्कृति, पृष्ठ-3।

“धर्म अपने विस्तृत अर्थों में संस्कृति के समान है और उससे बाहर भी है तथा संकुचित अर्थ में उसका महत्वपूर्ण अंग बनाता है जहां धर्म, आन्तरिक अनुभूतियों के महत्व को प्रकट करता है, जिससे जीवन के अर्थ और उद्देश्य का ज्ञान हो, वह संस्कृति की मूल आत्मा है, किन्तु जहां धर्म का प्रयोग वाह्य रूप में होता है उसमें आन्तरिक अनुभूतियां प्रतिबिंबित होती हैं, वह संस्कृति का एक अंश मात्र रह जाता है। धर्म, उच्चतम सत्य की आन्तरिक उपलब्धि के रूप में,

कभी संस्कृति का विरोधी नहीं बन सकता, किन्तु जब वास्तविक धर्म का ह्रास होता है। तब अक्सर संस्कृति से उसका टकराव होता है”।

संस्कृति के लिए, दूसरे शब्द की तरह, कभी-कभी सम्यता का उपयोग किया जाता है, किन्तु सामान्यतया स्वीकृति के ऊँचे स्वरूप के अर्थों में। यथार्थ में सम्यता, मनुष्यों के सांस्कृतिक विकास की वह स्थिति है, जिसमें नगर कहे जाने वाले जनसंख्या के क्षेत्रों में, वे रहना प्रारंभ कर देते हैं तथा उच्च श्रेणी के भौतिक या उच्च जीवन स्तर के प्रतीक बन जाते हैं। किन्तु उच्च स्तर के भौतिक जीवन या उच्च जीवन स्तर के में संस्कृति का अंश तभी आता है, जबकि वह उसमें संश्लिष्ट हो या उच्च नैतिक मूल्यों को प्राप्त करने का कोई माध्यम बने। जब ऐसा जीवन, नैतिक मूल्यों में से किसी एक के प्रतिकूल होता है या ऐसे किसी नैतिक मूल्य से दूर रहता है तब वह सांस्कृतिक विकास में अवरोध बन जाता रहता है। इस तरह सम्यता हमेशा संस्कृति की मित्र नहीं होती। बल्कि कभी-कभी शत्रु बन जाती है। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि पुरानी सड़ी सभ्यता को उखाड़ फेंकना पड़ा, जिससे कि संस्कृति का नए रूप में उदय हो सके। संस्कृति मनुष्यों के समुदाय में रहती है, जिसे समाज कहा जाता है। ऐसे जिस समाज में राजनैतिक और सांस्कृतिक एकता पायी जाती है या वह समाज ऐसी एकता का इच्छुक होता है, तो उसे राष्ट्र माना जाता है। अतः सांस्कृतिक आयाम के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीयता भी जुड़ जाती है। राजनैतिक धारणा के रूप में राष्ट्रीयता एकदम नयी बात नहीं है, किन्तु

1. डॉ० एस० आबिद हुसेन : भारत की राष्ट्रीय संस्कृति, पृष्ठ-3।
2. वही-पृष्ठ-04।

आधुनिक यूरोप में उसे एक नया महत्व प्राप्त हुआ है। पूर्व में धर्म जाति और संस्कृति के साथ-साथ राज्य को एक शक्ति माना जाता था, जो लोगों के मस्तिष्क से धर्म का प्रभाव घटा तथा चर्चों में लोगों को एकता में रखने की क्षमता नहीं रह गई, जैसा कि पूर्व में था, तब राज्य एकता और राष्ट्रीयता का वास्तविक माध्यम बन गया<sup>1</sup>।

राष्ट्र का साधारण अर्थ एक समुदाय के लोगों का, एक ही राज्य में, समान राजनैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत रहना है किन्तु राष्ट्र की यह अवधारणा अपर्याप्त है। यथार्थ में राष्ट्रीयता

के आधुनिक सिद्धान्त का आधार किसी रूप में लोगों के राजनीतिक व्यवस्था स्वीकार किया जाना है।

इस तरह एक ही राज्य में, एक ही राजनैतिक व्यवस्था के अन्तर्गत स्वेच्छा से रहने या रहने के प्रयत्न करने को, एक राष्ट्र की परिभाषा मानना होगा। एक आदर्श राष्ट्र के लिए पूर्व दशाएं हैं— एक सघन भौगोलिक क्षेत्र में मनुष्यों का रहना, जाति, धर्म, भाषा और सांस्कृतिक एकता तथा समान इतिहास। स्पष्ट है कि यदि मनुष्यों के एक समुदाय में यह सब बातें पायी जाती हैं, तो वह बहुत सरलता से एक राष्ट्र बन जाता है और ऐसे राष्ट्र की राष्ट्रीयता अधिक मजबूत और स्थायी होगी।

अधिक राष्ट्रों में केवल भौगोलिक, सांस्कृतिक और भाषायी एकता तथा समान इतिहास के गुण पाये जाते हैं। किन्तु कनाडा और स्विट्जरलैंड के समान कुछ ऐसे भी देश हैं, जिनमें एक से अधिक राष्ट्र भाषाएं प्रचलित हैं। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका भी एक ऐसा देश है, जहां विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के लोग, बिना समान इतिहास केवल एक क्षेत्र विशेष में रहने के कारण और एक सी भाषा बोलने के कारण एकता के सूत्र में बंध गये हैं।

वस्तुतः एक सघन भौगोलिक क्षेत्र में सामान्य सांस्कृतिक एकता के साथ रहने वाले लोग राष्ट्रीयता के लिए न्यूनतम आवश्यक शर्तें पूरी करते हैं तथा एक विशेष राजनैतिक व्यवस्था अपनाकर और एक राज्य विशेष का निर्माण कर राष्ट्र बन सकते हैं।

यहां एक तथ्य ध्यान देने योग्य है जब अनेक जातियों के लोग लम्बे समय तक साथ रहने लगते हैं तब उनमें भाषिक, भौगोलिक एकता के कारण एक वैचारिक प्रवाह उत्पन्न होने लगता है तथा इससे संस्कृति का विकास प्रारंभ होता है। क्योंकि संस्कृति, परम्परा, कलाओं एवं साहित्य के माध्यम से परिष्कृत होकर स्रोतस्विनी की भांति अपना मार्ग प्रशस्त करती है। इस प्रकार किसी भी राष्ट्र की जो सभ्यता होती है उसके सूक्ष्म रूप में वहां की संस्कृति विद्यमान रहती है।

## (ख) संस्कृति की परिभाषा



संस्कृतज्ञ धार्मिक विद्वानों का विचार है कि 'संस्कृति' शब्द 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से 'सुट्' का आगम करके 'वित्तन्' प्रत्यय लगाकर बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, सुन्दर या पूर्ण बनाना अथवा परिष्कार करना<sup>1</sup>। श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती का मत है कि 'संस्कृति' शब्द 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुट्' का आगम करने पर बना है, जिसका अर्थ है भूषण भूत सम्यक् कृति या चेष्टा। अतः जिन चेष्टाओं द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख-शान्ति प्राप्त करता है। वे ही संस्कृति कही जा सकती है, अथवा 'मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचारों को संस्कृति कहा जा सकता<sup>2</sup> है। श्री कर पात्री जी ने भी 'संस्कृति' की ऐसी ही व्याख्या करते हुए लिखा है कि "लौकिक पारलौकिक धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, राजनैतिक अभ्युदय के उपयुक्त देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि की भूषणभूत सम्यक् चेष्टाएं एवं हलचल ही संस्कृति है। श्री राजगोपालाचारी का मत है कि "किसी भी जाति अथवा राष्ट्र के शिष्ट पुरुषों में विचार, वाणी एवं क्रिया का जो रूप व्याप्त रहता है, उसी का नाम संस्कृति<sup>3</sup> है।

4. डॉ० द्वारिका प्रसाद सक्सेना : 'कामायनी में काव्य' संस्कृति और दर्शन, पृष्ठ-280।

डॉ० सम्पूर्णानन्द का विचार है कि "संस्कृति उस दृष्टिकोण को कहते हैं, जिसमें कोई समुदाय विशेष जीवन की समस्याओं पर दृष्टि-निक्षेप करता है। यह दृष्टिकोण कई बातों पर निर्भर करता है। थोड़े में कह सकते हैं कि समुदाय की वर्तमान अनुभूतियों और पुरातन अनुभूतियों के संस्कारों के अनुरूप उसका दृष्टिकोण होता<sup>4</sup> है। इस तरह संस्कृति का संस्कारों का घनिष्ठ सम्बन्ध है मानते हैं। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का कथन है कि "संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। संस्कृति हवा में नहीं रहती, उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नाना विधि रूपों का समुदाय ही संस्कृति है।<sup>5</sup> हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है कि सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव ही संस्कृति है<sup>6</sup>। डॉ० गुलाब राय का मत है कि संस्कृति शब्द का सम्बन्ध संस्कार से है, जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना परिष्कार करना संस्कृति शब्द का यही अर्थ है और संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी, किन्तु जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं।'

भाववाचक होने के कारण संस्कृति एक समूह—वाचक शब्द<sup>1</sup> है। डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार का कथन है कि “मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है, उसी को ‘संस्कृति’ कहते हैं”।<sup>2</sup> मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया; दर्शन—शास्त्र के रूप में भी वह चिन्तन किया; साहित्य, संगीत और कला का जो सृजन किया; सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिए जिन प्रथाओं और संस्थाओं को विकसित किया, उन सबका समावेश हम ‘संस्कृति’ में करते हैं।<sup>3</sup> डॉ० रामजी उपाध्याय का मत है कि “मानव ने जो प्रगति की है, उसके मूल में बुद्धि और सौन्दर्य की अभिरुचि है। इनका अवलम्बन लेकर वह संसार की यथेष्ट रूप—रेखा बनाता जा रहा है। वह स्वभावतः किसी रचना को पूर्ण मानकर संतोष नहीं कर लेता, बल्कि नित्य ही

1. द्वारिका प्रसाद सक्सेना : कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन— 279।
2. डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार : भारतीय संस्कृत और उसका इतिहास— पृष्ठ 20।
3. रामधारी सिंह ‘दिनकर’ : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ—653।

कल की वस्तुओं को यथोशक्ति पूर्ण या सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है। सुन्दर बनाने, सुधारने या पूर्ण बनाने का प्रयत्न मनुष्य की बुद्धि और सौंदर्य — भावना के विकास का परिचय देता है। मानव का यही विकास ‘संस्कृति’ है। संस्कृति का मौलिक अर्थ—सुधारना, सुन्दर या पूर्ण बनाना है।<sup>1</sup>

इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करते हुए हिन्दी के प्रसिद्ध आधुनिक कवि एवं आलोचक श्री रामधारी सिंह ‘दिनकर’ ने लिखा है कि “संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसलिए जिस समाज में हम समाज में हम पैदा हुए हैं अथवा जिस समाज में मिलकर हम जी रहे हैं, उसकी संस्कृति हमारी है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं, वह भी हमारी संस्कृति का अंग है, बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपने सन्तानों के लिए छोड़ जाते हैं। इसलिए संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन का व्याप हुए हैं तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है। यही नहीं, बल्कि संस्कृति हमारा पीछा जन्म जन्मान्तर तक करती है।<sup>2</sup>

अंग्रेजी साहित्य में 'संस्कृति' शब्द का पर्यायवाची 'कल्चर' शब्द माना जाता है। यह 'कल्चर' शब्द लैटिन भाषा के 'कुलतुरा' (Culture) शब्द से निकला है 'कल्चर' में वही धातु है जो 'एग्रीकल्चर' में है। अतः इसका भी अर्थ पैदा करना या सुधारना है।

### (ग) संस्कृति की विशेषताएं

संस्कृति की अवधारणा में संस्कृति के प्रभाव को व्यक्तित्व निर्माण प्रक्रिया में दिखाया गया है। वस्तुतः संस्कृति वह आन्तरिक प्रक्रिया है जो व्यक्तित्व को परिष्कृत और समृद्ध बनाती है। संस्कृति की विशेषता मनुष्य को संस्कार देना है,

1. डा० रामजी उपाध्याय : भारत की प्राचीन संस्कृति – पृष्ठ-2 ।
2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ-653 ।

इसके अन्तर्गत उसकी अभिवृत्ति एवं दृष्टिकोण का निर्धारण है। कुछ लोग सभ्यता और संस्कृति को एक ही मानते हैं, किन्तु संस्कृति आन्तरिक क्रिया है तथा सभ्यता बाहरी।

सांस्कृतिक परिवर्तन शनैः शनैः होते हैं। ये परिवर्तन चिन्तन तथा रुचि विषयक होते हैं। सांस्कृतिक चिन्तन में कलात्मक सर्जना के विचार होते हैं, हर संस्कृति के विशेष व्यवहारिक मानक होते हैं संस्कृति धर्म के दृष्टिकोण का निर्धारण करती है तथा उसे स्वरूप प्रदान करती है। यह व्यक्ति के रुचि को दिशा प्रदान करती है तथा यही हमारी व्यवहारिक क्रियाओं में अन्तर लाती है। संस्कृति विभिन्न शास्त्रों, दर्शन आदि में होने वाले चिन्तन, साहित्य, चित्रांकन आदि कलाओं एवं परहित साधन आदि नैतिक आदर्शों तथा व्यापारों को दर्शाती है। किसी देश की संस्कृति से हम मानव जीवन एवं व्यक्तित्व के रूपों को समझते हैं।

किसी देश की संस्कृति धर्म, दर्शन, एवं परम्पराओं की दिशा निर्धारित करती है। संस्कृति मानव मूल्यों को दर्शाती है यथा भारतीय संस्कृति में मातृत्व एवं स्थितप्रज्ञ को महत्व दिया गया है। संस्कृतियों का अन्तर जीवन दृष्टि में अन्तर पैदा करता है। उदाहरणार्थ यूरोप निवासी राजनीति एवं आचार शास्त्र को अधिक महत्व देता है जबकि भारतीय अध्यात्मवाद को भारतीय संस्कृति जहां भगवान को सबका कारक मानती है, वहीं यूरोप वासी सामाजिक स्वतंत्रता तथा विज्ञान को महत्व देते हैं। हर संस्कृति जलवायु एवं परिस्थितियों के अनुकूल अपनी दृष्टि निर्धारित करती है, जिसे हम यूरोप एवं भारत के संदर्भ में देख सकते हैं।

संक्षेप में संस्कृति अन्तः सलिला है जिस प्रकार वनस्पति के लिए जल का महत्व होता है उसी प्रकार मानव विकास के लिए संस्कृति का महत्व है। विशेषता के संदर्भ उल्लेखनीय तथ्य यह है कि सभी संस्कृतियों के सार्वभौम लक्षण एक से नहीं हैं इन्हें धर्म, दर्शन, परम्परा, कला के लक्षणों के रूप में पहचाना जा सकता है। उदाहरण के लिए भारतीय संस्कृति की दो विशेषताएं हैं जो सभी संस्कृतियों से भिन्न हैं वे हैं— समन्वयशीलता तथा जीवन का लक्ष्य मोक्ष संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संस्कृति, देश, काल, जलवायु में विकसित होती हैं। परिस्थितियों के अनुसार संस्कृति का दृष्टिकोण निर्धारित होता है।

भारत में प्रकृति की सभी सुविधाएं भी यहां की संस्कृति आध्यात्मिक बन गई तथा यूरोप में मनुष्य को संघर्षशील जीवन बिताना पड़ा इसलिए यूरोपीय संस्कृति भौतिकवादी विज्ञान उपासक बन गई।

### (ग) भारतीय संस्कृति का परम्परागत स्वरूप

भारतीय संस्कृति की समन्वयशीलता उसका अप्रतिम गुण है इस तथ्य के बोधार्थ संस्कृति के परम्परागत स्वरूप का सर्वेक्षण अनिवार्य है। आज से तीन हजार 2 वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृति का जो रूप था, आज भी, मूलतः वह वैसा ही है। मिश्र बेबिलोन और यूनान में भी प्राचीन सभ्यताएं उठी थीं। किन्तु काल ने उन्हें ध्वस्त कर दिया। केवल भारत ही एक ऐसा देश है, जिसका अतीत कभी मरा नहीं। वह बराबर वर्तमान के रथ पर चढ़कर भविष्य की ओर चलता रहा है। भारत का अतीत कल भी जीवित था, आज भी जीवित है और कदाचित, आगे भी जीवित रहेगा।

किन्तु एक बात है जिसमें काफी अन्तर पड़ा है और बात यह है कि नास्तिकों एवं भौतिकवादियों को छोड़कर आज ऐसे हिन्दू कम हैं, जो परलोक का भय नहीं मानते हों। यह वैदिक काल की भावना से भिन्न भावना है। वैदिक ऋषि नास्तिक या भौतिकवादी नहीं थे, किन्तु, मृत्यु से डरने की बात उन्हें सूझी नहीं थी, न उनमें यही भाव जगा था कि स्वर्ग के साथ-साथ कहीं कोई नरक भी हो सकता है, जहां आत्मा को यातनाएं झेलनी पड़ सकती है। वस्तुतः, आत्मा, पुर्नजन्म और कर्म फलवाद के विषय में वैदिक ऋषियों ने अधिक सोचा था। इन सिद्धान्तों

के बीज कोई खोजे तो वेद में खोज सकता है। किन्तु इनका विकास आगे चलकर उपनिषदों में हुआ सा लगता है। आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु है जो मरणोपरान्त परलोक की जाती है, इस सिद्धान्त का आभास वैदिक

#### 1. कठोपनिषद : प्रथम बल्ली।

ऋचाओं में मिलता है, किन्तु आत्मा का आवागमन क्यों होता है, इसकी खोज वेदों में नहीं मिलती। वेदों का वातावरण, आनन्द और उल्लास का वातावरण है। उसमें भय अथवा शोक की छाया नहीं है। अतः इस काल में विचार तो है, परन्तु भय नहीं। अपनी समस्त सीमाओं के साथ सांसारिक जीवन वैदिक ऋषियों का प्रेय था प्रेय को छोड़कर श्रेय की ओर बढ़ने की आतुरता उपनिषदों के समय जगी, जब मोक्ष के सामने गृहस्थ जीवन निस्सार हो गया। विचारणीय तथ्य यह है कि वैदिक जनता इसी संसार में भूली हुई थी। उसे जीवनोपरान्त आने वाले जीवन का ध्यान नहीं था। वैदिक ऋषि भी यह कह कर शान्त हो जाते थे कि यह सृष्टि किसने बनायी है? कौन देवता है, जिसकी हम उपासना करें? (कस्मै देवाय हविषा विधेम?)<sup>1</sup>

संस्कृति के विकास के क्रम में वैदिक ब्राह्मण का संक्षिप्त विहंगावलोकन आवश्यक है।

**वैदिक वाङ्मय** – काव्य मीमांसा के लेखक राजशेखर ने माना है कि वेद तीन ही हैं— ऋक्, यजुष् और साम अथर्व चौथा वेद है, किन्तु उसमें अधिक अंश तीन वेदों के हैं। इसके अतिरिक्त उसमें मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि विद्याओं का ही वर्णन है। सामवेद में ऋग्वेद के ही गेय मंत्रों का प्राधान्य है। यजुषों का पाठ होता था। वेदों का पूरा सम्बन्ध यज्ञों से था।

यज्ञों की विधियां लिखी जाने लगीं। इस प्रकार एक नया वाङ्मय उत्पन्न हुआ जिसका नाम ब्राह्मण पड़ा। ब्राह्मण प्रत्येक वेद के मिलते हैं। ब्राह्मण—ग्रंथ का नाम ही निर्देश करता है कि ग्रंथों की रचना ब्राह्मण, पुरोहित, यज्ञ आदि के कारण हुई होगी। आर्यों का प्रधान धार्मिक कृत्य यज्ञ था। यज्ञों की विधियां समझाने तथा उनके अनुष्ठानों का निर्धारण करने को ब्राह्मण ग्रंथ बने। अतएव यज्ञ के विषय में प्रत्येक वेद की कहां क्या उपयोगिता है, इसे समझाने के लिए प्रत्येक वेद के अलग-अलग ब्राह्मण बन गये। ब्राह्मण मुख्यतः कर्मकाण्ड के ग्रंथ हैं।

## 1. ऋग्वेद : प्रजापति सूक्त।

ये ग्रंथ नीरस है। उनके भीतर विधि और अर्थवाद, ये दो प्रकार के विषय हैं। विधियां यज्ञों के यज्ञों के नियम हैं और अर्थवाद उनकी व्याख्या का प्रयास। अर्थवाद के अन्दर ही इतिहास, पुराण और आख्यायिकाओं के प्रसंग आते हैं, जिनमें पुराण साहित्य का मूल है। इस प्रकार, ब्राह्मण-ग्रंथों का एक महत्व यह भी है के वेद और वेदेतर साहित्य के बीच की कड़ियां सूचित करते हैं। ब्राह्मणों में निरूपित यज्ञ नियम जब असीम जाल बन गये, तब उन्हें संक्षिप्त और व्यावहारिक बनाने के प्रयास से श्रौत-सूत्रों का विकास हुआ। ब्राह्मण युग में ही यास्क ने निरुक्त लिखा, जिसका उद्देश्य वेद के अर्थ को सुनियोजित करना था और जब ब्राह्मण ग्रंथों ने यज्ञ को बहुत अधिक प्रधानता दे डाली। तब ब्राह्मणों के विरुद्ध एक नये चिन्तन का आरम्भ हुआ जिसका आरम्भिक रूप अरण्य को में दिखाई देता है। जो चिन्तक पुरोहितवाद और यज्ञ को यथेष्ट श्रद्धा से नहीं देखते थे। उनमें जीवन के प्रति एक प्रकार का वैराग्य उदित होने लगा, वे घर-बार छोड़कर अरण्यों में रहने लगे और उनका चिन्तन इस प्रश्न को लेकर चलने लगा कि यज्ञों का वास्तविक अर्थ क्या है, उनके भीतर कौन सा रहस्य है तथा वे धर्म के किस रूप के प्रतीक हैं? आश्रमों के विकसित हो जाने पर आरण्यक उनके प्रिय ग्रंथ बन गये, जो वानप्रस्थी थे। सभी प्राचीन उपनिषद् (वृहदारण्यक, छान्दोग्य, केन, ऐतरेय, कौषीतिकी और तैत्तिरीय) या तो आरण्यकों के अंग अथवा उनके परिशिष्ट ग्रंथ थे।

**वेदांग** – यज्ञों में वेदों का जो गायन होता था, उसमें कभी तो अशुद्धि होती थी, कभी पाठ-भेद से विकृति आ जाती थी, कभी पाठ और गायन, दोनों में विविधताएं भर जाती थी। इन अशुद्धियों को दूर करने तथा पठन तथा गायन होने वाली विविधताओं में व्यवस्था लाने के लिए निम्नलिखित शास्त्र उत्पन्न हुए जो वेदांग कहे जाते हैं।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते

ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते

शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।

तस्मात् साऽमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ।।<sup>1</sup>

1. **शिक्षा** – यह आजकल का फोनेटिक्स या उच्चारण – शास्त्र था। सामवेद की शिक्षा का नाम नारद-शिक्षा है और यजुर्वेद की शिक्षा का नाम याज्ञवल्क्य-शिक्षा, इसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा भी है।
2. **छन्द** – छन्द – शास्त्र वेद के गायन को नियमित करने के लिए बना था। अब इसका एक ही ग्रंथ 'पिंगल' मिलता है, जिसमें वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन है।
3. **निरुक्त**– वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति करने के लिए यह शास्त्र निकला था, निघण्ट नामक एक ग्रंथ में वैदिक शब्दों की तालिका थी। उसी पर यास्क मुनि ने (समय ई0पू0700) भाष्य बनाया, जो निरुक्त के नाम से प्रसिद्ध है। यास्क ने ही, पहले-पहले यह घोषणा की कि शब्द धातुओं से निकले हैं।
4. **पाणिनि की अष्टाध्यायी**– ईसा से 700 वर्ष पूर्व बनी। पाणिनि पूर्व गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि वैयाकरण हो चुके थे, किन्तु उनके ग्रंथ अब नहीं मिलते हैं। पाणिनि के पूर्व के वैदिक व्याकरण को प्रतिशाख्य कहते थे। लौकिक-प्रतिशाख्य और कात्यायन-प्रतिशाख्य अब भी मिलते हैं।

शिक्षा, छन्द, निरुक्त और व्याकरण, असल में वे ही चार वेदांग हैं, जिनका सम्बन्ध वेद के विषयक विज्ञान से है। किन्तु दो और विद्याओं को मिलाकर वेदांग छह कहे जाते हैं।

1. पाणिनी शिक्षा : 41-42

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय : आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ, पृष्ठ-78

2. वृहदारण्यक उपनिषद् : द्वितीय अध्याय, पंचम ब्राह्मण।

5. यह आर्यों का एक मात्र भौतिक शास्त्र था। जयचन्द जी का कहना है कि अब वैदिक ज्योतिष का कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

6. जिस प्रकार वेदों के कर्मकाण्ड पक्ष के नियमन के लिए ब्राह्मण ग्रंथों का निर्माण हुआ, उसी प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों की व्याख्या के लिए कल्प सूत्र बने। कल्पसूत्रों में, व्याजान्तर से, आर्यों का सामाजिक जीवन चित्रित है। कल्प सूत्रों दो प्रकार के हैं। एक श्रोत्र सूत्र, जिनमें आर्यों के यज्ञ का वर्णन है। जिनसे भारतीय यज्ञ पद्धति का मूल स्वरूप जाना जा सकता है। दूसरा स्मार्तसूत्र जिसके दो भेद हैं (2) धर्मसूत्र में राजा तथा प्रजा के धर्म, धार्मिक नियमों और वर्णाश्रम-विधान का वर्णन है। भारतीय संस्कृति के विकास क्रम में उपनिषदों का विवेचन भी अपेक्षित है।

वैदिक साहित्य में वेदांगों के बाद, उपनिषदों का स्थान आता है। मुक्तिक उपनिषद के अनुसार सभी उपनिषदों की संख्या 108 है। किन्तु पंडित सबको समान महत्व नहीं देते। ऐतिहासिक दृष्टि से वे ही उपनिषद महत्वपूर्ण समझे जाते हैं, जिनकी रचना बुद्धदेव के आर्विभाव के पहले ही हो चुकी थी। उपनिषदों की रचना बहुत बाद तक होती रही। इस तथ्य का प्रमाण यह है कि अल्लोपनिषद् (अल्ला का उपनिषद्) की रचना अकबर के समय में हुई। शंकराचार्य ने जिन उपनिषदों की टीका लिखी है, उनके नाम हैं—<sup>1</sup> (1) ईश (2) केन (3) कठ (4) प्रश्न (5) मुण्डक (6) माण्डूक्य (7) त्रैत्तिरीय (8) ऐतरेय (9) छान्दोग्य (10) वृहदारण्यक (11) नृसिंह पूर्वतापनी इसके अतिरिक्त उन्होंने पांच-छह अन्य उपनिषदों से उदाहरण दिये हैं।

भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण स्रोत उपनिषदों का उद्गम संहिताओं में प्राप्त होता है। पश्चिमी विद्वानों का आग्रह है कि संहिताओं में केवल कर्मकाण्ड पर ही जोर दिया गया है। ज्ञानकांड का उदय तो कर्मकाण्ड के विरोध रूप में उपनिषदों में हो सर्वप्रथम हुआ। परन्तु उपनिषदों का अध्ययन इस धारणा को निरावलंब तथा भ्रान्त सिद्ध करता है। इस विषय में एक

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय : आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ, पृष्ठ-78

उदाहरण प्रस्तुत है। वृहदारण्यक उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के पंचम ब्राह्मण में मधुविद्या का बड़ा ही सुन्दर तथा साज़ोंपाऽग विवेचन किया गया है। मधु विद्या का पर्यवसान आत्म विद्या में होता है — “अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयो अमृतमयः पुरुषो यश्चायत्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो डयमेव स योऽयत्मात्मत्मे दममृत मिदं ब्रह्मैदं सर्वम।।”



मधु विद्या के प्रतिपादन के अनन्तर उपनिषद् का कथन है कि इस मधुविद्या को दध्यड. आथर्वण ऋषि ने अश्विन से कहा था और इसके प्रमाण में तदेतद् ऋषिः पश्यन्नवोचत, कहकर ऋग्वेद के चार मंत्र उद्धृत किये गये हैं।

तद् वां नरा सनये दंस उग्र  
माविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्।  
दध्यड. ह यन्मध्वाथर्वणो वा,  
मश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच ॥<sup>2</sup>

इस मन्त्र के तृतीय चरण में मधुविद्या का नितान्त स्पष्ट उल्लेख है। पूर्वा पर के विचार करने से हम इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि ऋग्वेद के पूर्वोक्त मंत्र में निर्दिष्ट विद्या करती उपनिषद् में उपवृंहण पाते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के आरम्भिक पांच मंत्र वाजसनेयी संहिता के 11वें अध्याय से उद्धृत किये गये हैं। द्वैतवाद का प्रधान उद्बोधक मंत्र – द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं तयोरन्यः पिपातां स्वाद्वत्तिं परिष्वजाते। अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।<sup>3</sup>

यह ऋग्वेद के प्रथम मंडल के 164वें सूक्त की बीसवीं ऋचा है तथा अथर्ववेद के नवम् कांड के नवम सूक्त का बीसवां मंत्र है। ऐसी दशा में उपनिषदों को नवीन ज्ञान के आलोक में हम आलोकित कैसे मानें? संहिताओं में ज्ञान के मूल तत्वों का दिग्दर्शन ऋषियों ने अपने प्रतिभ चक्षु से निरीक्षण कर

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय : आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ, पृष्ठ-193
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय : आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ, पृष्ठ-194
3. बृहदारण्यक उपनिषद् : द्वितीय अध्याय पंचम, ब्राह्मण।

स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया है। ब्रह्म की सर्व व्यापकता का वर्णन अनेक सूक्तों में उपलब्ध होता है। इसके सबसे सुन्दर दृष्टान्त ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (10/9) अदिति सूक्त (1/89) तथा अथर्ववेद के स्कम्म सूक्त (10 कांड 7-8 सूक्त), उच्छिष्ट सूक्त (11/9) है वह सहस्र सिर वाला, सहस्रनेत्र तथा सहस्रपाद वाला 'पुरुष' चारों ओर से इस पृथ्वी को घेर कर परिमाण में

दश अंगुल अधिक अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्। पुरुष सूक्त की स्पष्ट उक्ति है कि जो कुछ इस समय वर्तमान है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है तथा जो कुछ उत्पन्न होने वाला सब पुरुष ही है—1

पुरुषं एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्।

गौतम ऋषि का अनुभूत सत्य है कि अदिति ही आकाश है, अदिति ही अन्तरिक्ष है, अदिति ही माता, पिता तथा पुत्र है। अदिति ही समस्त देवता रूप है और वही समग्रवर्णों की समष्टि है जो कुछ उत्पन्न हुआ है और होने वाला है, वह सब अदिति ही है।<sup>2</sup>

अथर्ववेद में इसी परम तत्व को 'स्कम्म' तथा 'उच्छिष्ट' के अभिधानों से अभिहित किया गया है। दृश्य प्रपंच के निषेध रहने पर जो अवशिष्ट रहता है वही 'उच्छिष्ट' है। अतः 'उच्छिष्ट' व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ हुआ प्रपंच रहित, बाध—रहित ब्रह्म। अथर्व श्रुति कहती है— उच्छिष्ट पर नाम—रूप अवलम्बित रहता है; उच्छिष्ट ही इन्द्र और अग्नि है। यह समग्र विश्व उसी के भीतर सम्यक् रूप से स्थापित<sup>3</sup> है। वेदान्त के इतिहास में 'नामरूप' की कल्पना कितनी महत्वपूर्ण है इसे दर्शन का हर अध्ययनार्थी जानता है।

ये उपनिषद् क्या हैं? वैदिक ऋषियों के द्वारा चक्षु से साक्षात् किये गये अनुभूतियों के भण्डार हैं। वे आध्यात्म के मानसरोवर हैं, जहां से ज्ञान सरितायें निकल कर भारत वर्ष के इस पुण्य भूमि में जनमानस को उर्वर बनाती हुई सर्वत्र प्रवाहित होती हैं। भारतवर्ष की धार्मिक तथा दार्शनिक धारायें यहीं से प्रवाहित

1. ऋग्वेद : पुरुष सूक्त मंत्र—2
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय संस्कृति के आधार ग्रंथ—पृष्ठ—194।
3. वही— पृष्ठ— 196।

होती हैं। उपनिषद् के महत्व का तो यह एक पक्ष है। इस महत्व का दूसरा पक्ष है उसका संसार के महनीय दार्शनिकों के ऊपर अपना व्यापक प्रभाव डालना। शापेन—हावेर ने किस प्रकार अपनी गुरुत्रयी में प्लेटो और कैंट के अतिरिक्त उपनिषदों को भी प्रमुख माना है, इस बात को यहां दुहराने की आवश्यकता नहीं। परन्तु यूनानी दार्शनिक पाइथेगोरस तथा मध्ययुगीन दर्शन निओ प्लेटोनिज्म पर उपनिषदों के प्रभाव को भुलाया नहीं जा सकता। बाईबिल तथा कुरान के

सिद्धान्तों पर भी इन ग्रंथों का प्रभाव पड़ा है। उपनिषद् के सिद्धान्त बाईबिल के सिद्धान्तों के समझने के लिए कुंजी का काम करते हैं। बाईबिल कहती है कि अपने पड़ोसी से प्रेम करो। परन्तु इसके कारण के विषय में वह नितान्त मौन है। इसके कारण का रहस्य उपनिषदों का उपनिषद् का अद्वैतवाद उद्घटित करता है। जगत् में सर्वत्र एक ही परमतत्त्व रमा हुआ है, तो अपना पड़ोसी भी अपनी ही आत्मा ठहरा। पड़ोसी से प्रेम करना तो अपने आप से प्रेम करना<sup>1</sup>।

हमारी यह परम्परा रही है कि सब वर्तमान विचाराधाराओं के विकास को वेदों में ढूँढना रहना चाहते हैं, प्रायः वे प्राप्त भी होते हैं। उपनिषद् वेद के विकास की कड़ी हैं। वेदों के तथ्य अपने विकासमान पहलू के रूप में उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। वेदों में प्रकृति तत्त्वों को सजीव मानने की परम्परा रही है इस स्थूल विचाराधारा का प्रतिवर्तन उपनिषदों में ध्यान क्रिया का आधार बनता है पहले वेदों में बुद्धदेव वाद का विकास है तत्पश्चात् सभी प्रकृति उपादानों में एक ही परमात्मा का आभास उपनिषदों का मूल विषय माना जाता है। उपनिषदों में सूक्ष्म चिन्तन है, इसका मूल रूप 'नासदीय सूक्त' में दिखाई देता है। यहां मनुष्य जाति का सबसे बड़ा स्वाधीन चिन्तन है। ऐसा लगता है कि जिन प्रश्नों को लेकर उपनिषद् जूझते हैं वह आज भी जूझने का विषय है। इस सूक्त में कहा गया है— सृष्टि में प्रथम अन्धकार से अन्धकार ढका हुआ था। सभी कुछ अज्ञात और सब जलमय (अविभक्त) था। अविद्यमान वस्तु के द्वारा वह सर्वव्यापी आच्छन्न था। तपस्या के प्रभाव से वही एक तत्त्व उत्पन्न हुआ। "प्रकृत तत्त्व को

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय संस्कृति के आधार ग्रंथ—पृष्ठ—196।

कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करें? यह सृष्टि किस उत्पादन—कारण से हुई? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियां हुई? क्या देवता लोग इन सृष्टियों के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं। कहां से सृष्टि हुई इसे कौन जानता<sup>1</sup> है?

वेद के अन्तिम भाग में विवृत उपनिषद् भारतीय संस्कृति के महत्वपूर्ण आधार हैं। यहां से दर्शन की विराट परम्परा फूटती है। क्षितिजल पावक, गगन और वायु, इन पांच तत्त्वों से हुई है। इन पांच तत्त्वों का स्वामी महतत्त्व है जिनमें वे पांचों तत्त्व विद्यमान रहते हैं। काल पाकर वह महतत्त्व (जिसे हम प्रकृति का मूल तत्त्व कह सकते हैं) फैलने लगता है। महतत्त्व के इसी फैलाव

को हम सृष्टि की रचना या विकास कहते हैं। एक निश्चित समय के बाद महत्व का फैलाव सिमटने लगता है, यह सिमटाव प्रलय कहलाता है। उपनिषदों में इस प्रकार के विकास या प्रलय को मकड़े के जाले के उपमा से समझाया है<sup>2</sup>।

मकड़े के भीतर से जाली निकल कर चारों ओर छा जाती है, यहीं सृष्टि का बनना है। फिर वह जाली सिमट कर भीतर चली जाती है, यही सृष्टि का विनष्ट होना है। यह मकड़े को महत्त्व माना गया है। महत्त्व प्रकृति का मूल तत्व है। सृष्टि इसी महत्त्व से निकलती है, उसी से वापस भी चली जाती है।

जो यह मानते हैं कि महत्त्व जड़ है उससे चेतन सृष्टि कैसे हो सकती है, वे मानते हैं कि सृष्टि की रचना ब्रह्मा ने की है, वे द्वैतवादी कहलाते हैं। अद्वैतवादी यह मानते हैं कि ब्रह्म निराकार एवं निर्विकार है। वैदिक युग में अद्वैतवाद का ही महत्व था बाद में भक्ति भावना के प्रबल होने पर द्वैतवाद को महत्व दिया जाने लगा। उपनिषदों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि जीवन का लक्ष्य स्वर्ग पाना नहीं अपितु सृष्टि के बन्धन से मुक्ति पाना है। वेदों में प्रतिपादित मुख्य धर्म यज्ञ, उपनिषदों में आकर यह गौण हो गया तथा तप आत्मविद्या को महत्व दिया जाने लगा। उपनिषदों का विचार है कि जिस प्रकार आकाश सर्वत्र व्याप्त है, उसी प्रकार ब्रह्म कण-कण में व्याप्त है।

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 134।
2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 129।

आत्मा और परमात्मा को उपनिषद् एक मानते<sup>1</sup> हैं। जब कुम्हार कोई घड़ा बनाता है, तब आकाश का एक खण्ड उस घड़े में व्याप्त हो जाता है। घड़ा शरीर है और घड़े के भीतर व्याप्त आकाश ही आत्मा है। जब घड़ा फूट जाता है, तब उसमें बंधा हुआ आकाश बड़े आकाश में मिल जाता है, उपनिषद् कहते हैं कर्म फलवाद का सिद्धान्त सही है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा फल अवश्य भोगना पड़ता है, इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह कर्म सुधारे। गीता में कहा गया है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानम व सादयेत्

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः<sup>2</sup>

मनुष्य को चाहिए कि वह अपना उद्धार अपने द्वारा करे।

वस्तुतः आत्मा का जो विवेचन उपनिषदों में हुआ है वह मनुष्य के व्यक्तित्व के उच्चतम विकास का एक महत्वपूर्ण सोपान है।

उपनिषदों को जो मूलतत्त्व है वह वर्तमान मानवतावाद के निकट है। उदाहरण के लिए भक्ति तत्त्व जो विकास हमें मध्यकाल में दिखाई देता है, उसमें भी मोक्ष की अपेक्षा भक्ति का महत्व अधिक दिखाई देता है—

रसखान कहते हैं—

“मानुष हौ तो वही रसखान, बसौ ब्रज गोकुल गांव ग्वारन  
जो पसु हौ तो कहा वस मेरो, चरौ नित नंद के घेनुमझारन  
जो खग हौ तो वसेर करो, मिलि कालिदिंकूल कंदेब की,  
पाहन हौ तो वही गिरिकों डारन, जो धरयौ करि छत्र पुरन्दरन धारन।

1. वृहदारण्यक उपनिषद् : 5:19

2. भगवत गीता : स्पष्ट अध्याय श्लोक – 5

वस्तुतः भक्ति की कालिंदी मध्यकाल में प्रवाहित हुई, उसमें भी भारतीय संस्कृति का वह अविरल प्रवाह है जो मोक्ष की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्व देता है।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपनिषदों की तात्त्विकता जिसमें मानवता घुली हुई है। इस संदर्भ में रामधारी सिंह दिनकर की पंक्तियां उल्लेखनीय हैं— “आत्मा परमात्मा पुनर्जन्म और कर्मफल वाद के विषय में वेदों में जो हल्की—महीन कल्पनाएं थी, उपनिषदों में आकर उनका विपुल विकास हो गया है और भारतवासी यह मानने लगे कि धर्म का जो असली सूक्ष्म तत्त्व है वह यज्ञवाद और पशुहिंसा से उपलब्ध नहीं हो सकता। सारी सृष्टि ब्रह्म से व्याप्त

है और जड़ तथा चेतन सबके भीतर एक ही सत्ता निवास करती है।<sup>1</sup> यह सर्वविदित तथ्य है कि भारतीय संस्कृति में विविध संस्कृतियां मिली हुई हैं। आर्य संस्कृति के साथ द्रविड़, मंगोल यूनानी, शक आमीर, हूड, सभी का प्रभाव हमारी संस्कृति पर पड़ा है। संस्कृति के विकासात्मक क्रम में हम जानते हैं कि ईशा से पूर्व चतुर्थ शताब्दी में भारत पर सिकन्दर ने आक्रमण किया था। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद, पश्चिम से यूनानियों का बड़ा दल आया। ईसा से प्रायः एक सौ वर्ष पूर्वी युची और शक जातियों के लोग हिन्दुस्तान आये। चौथी शताब्दी में यहां हूणों का बहुत बड़ा दल आया। ईसा 100 वर्ष पूर्व आमीर जाति यहां आकर बस चुकी थी। किन्तु, जब मुसलमान इस देश में आये तब यहां केवल हिन्दू जाति का निवास था। नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविण और आर्य, मंगोल, यूनानी, युची शक तथा आमीर तथा हूण और तुर्क इनका कोई अलग अस्तित्व नहीं बचा था और ये, सबके सब हिन्दू समाज के चारों वर्णों में बंटकर भली-भांति पच खपचुके थे। कई प्रकार की औषधियों को कड़ाह में डालकर जब काढ़ा बनाते हैं, तब उस काढ़े का स्वाद हर एक औषधि के अलग-अलग स्वाद से सर्वथा भिन्न हो जाता है। असल में उस काढ़े का स्वाद सभी औषधियों के स्वदों के मिश्रण का परिणाम होता है। भारतीय संस्कृति भी इस देश में आकर बसने वाली अनेक जातियों की संस्कृतियों के मेल से तैयार हुई है और अब यह पता

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 64।

लगाना बहुत मुश्किल है कि उसके भीतर किस जाति की संस्कृति का कितना अंश है। चूंकि काढ़ा औंटने का काम आर्यों ने किया, इसलिए भारतीय संस्कृति पर आर्यों के नाम का बौद्धिक लेबुल साफ पढ़ा जा सकता है। लेकिन इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि औषधियां आर्यों ने अनेक जातियों से ली और सबका उन्होंने उचित मात्रा में परिपाक किया।'

वस्तुतः भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों की रासायनिक मिश्रण है। आर्य संस्कृति के साथ जो संस्कृतियां यौगिक रूप में विद्यमान हैं। उनमें महत्वपूर्ण एवं शोध स्थापन के अपेक्षानुरूप प्रकाशित करने का प्रयास किया जायेगा। ऋग्वेद में कहीं ऐसा प्रमाण नहीं मिलता कि आर्यों ने भारत पर आक्रमण किया और उसे जीता किन्तु, संस्कृत और तमिल के प्राचीन साहित्य से

यह बात स्पष्ट होती है कि संस्कृत भाषी आर्य आरंभ में विन्ध्य के उत्तर में ही सीमित थे, विन्ध्य के दक्षिण में वे लोग बसते थे, जिनकी भाषा संस्कृत नहीं थी। प्राचीन तमिल साहित्य में भी संस्कृत भाषियों को 'वडवंर' कहा गया है इसके साथ ही नवीन संस्कृत साहित्य में दक्षिणात्य शब्द द्रविणों के लिए प्रयुक्त हुआ है। आर्य दक्षिण भारत तक बहुत धीरे-धीरे पहुंचे थे। वैदिक साहित्य में दक्षिण भारत का उल्लेख नहीं है।

डॉ० नीलकंठ शास्त्री ने विन्सेण्ट का उदाहरण देते हुए लिखा है—“प्राचीन भारत के अब तक इतिहासकारों ने इतिहास यों लिखा है मानो दक्षिण का अस्तित्व ही न हो।”<sup>2</sup>

तो भी इस तथ्य को सभी स्वीकार करते हैं द्रविड़ संस्कृति का भारतीय संस्कृति पर महत्वपूर्ण प्रभाव है। यह सत्य है आर्य संस्कृति का तुमुलनाद ऊंचा अवश्य है परन्तु अन्य संस्कृतियों का यौगिकीकरण भी उल्लेखनीय है। आर्य दक्षिण भारत तक बहुत धीरे-धीरे पहुंचे थे। तमिल परम्परा बताती है कि अगस्त्य के दक्षिण गमन के पूर्व तमिल देश जंगलों से भरा था और आबादी वहां बहुत कम थी। रामायण के अनुसार रामचन्द्र का अगस्त्य साक्षात्कार दण्डकारण्य में हुआ था। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है।

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 115
2. नीलकंठ शास्त्री : दक्षिण भारत का इतिहास : पृष्ठ- 1

चेर देश में आर्य संस्कृति परशुराम के समय पहुंच चुकी थी। रामधारी सिंह दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है— केरल से यह जनश्रुति भी चलती है कि केरल और कोंकण की भूमि को समुद्र से निकालने का काम परशुराम ने किया था।<sup>1</sup>

तमिल परम्परा की कथा यह है कि शिव और उमा के विवाह के समय दक्षिण के सभी ऋषि मुनि उत्तरस्थ हिम पर्वत पर पहुंच गये, जिससे पृथ्वी का सन्तुलन बिगड़ गया। इससे घबरा कर देवताओं ने शिव से प्रार्थना की कि आप किसी ऐसी तेजस्वी ऋषि को दक्षिण भेज दें जिसके आकर्षण से वहां मनुष्य लौट सकें। इस काम के लिए शिवजी ने जिस व्यक्ति को चुना, वे ऋषि अगस्त्य थे। इससे आगे की कथा ऐसी है जिससे प्राचीनों की दूरदर्शिता का पता चलता है और यह विदित होता है कि उत्तर दक्षिण के बीच गहनतम भावात्मक एकता बनाये रखने का उन्हें कितना ध्यान था।

कथा यह है कि जब अगस्त्य जी को दक्षिण जाने की आज्ञा हुई उन्होंने शिवजी से कहा कि दक्षिण की भाषा तो मैं जानता हूँ नहीं फिर वहां जाकर मैं करूंगा क्या? इस पर शिवजी ने अपनी बायीं ओर अगस्त्य को खड़ा किया और दक्षिण की ओर व्याकरणाचार्य पाणिनि को और वे दोनों पक्षों से अपने डमरू पर थाप मारने लगे। इससे बायीं थाप से जो शब्द निकले, उससे तमिल भाषा बनी और दायीं थाप से जो शब्द छिटके, उनसे संस्कृत निर्माण हुआ। इसी शिक्षा का उपयोग करके 'अगस्त्य' नामक व्याकरण लिखा, जो तमिल का आदि व्याकरण माना जाता है।<sup>2</sup> इस प्रकार तमिल परम्परा के अनुसार, तमिल और संस्कृत भाषाएं कभी एक ही उद्गम से निकली थीं।

अगस्त्य उत्तर और दक्षिण भारत के बीच सेतु थे, इसका आख्यान उत्तर भारतीय परम्परा में भी है, तमिल और भाषा बहुत अर्थों एक परम्परा से जुड़ी हुई हैं। दोनों के सम्बन्धों को हम अनेकल स्तरों पर पाते हैं। उदाहरणार्थ तमिल में

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 64।
2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 64।

र को ल और ल को र कर देने का रिवाज है। यह रीति संस्कृत 'रलयोग भेदः' सूत्र में ढूँढा जा सकता है। रेवरेड क्रिस्टेल ने कन्नड़-इंग्लिश जो तमिल में तत्सम रूप में मौजूद हैं। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने 'आइरम' शब्द को 'सहस्त्रम्' का रूपान्तर बताया है। इसी प्रकार 'स्नेह' के लिए भी शब्द तमिल में हुआ है।<sup>1</sup>

सांस्कृतिक सम्मेलन भाषा के माध्यम से सामान्य रूप से पहचाना जाता है। इसके अतिरिक्त धार्मिक में संस्कृति के स्रोत आसानी से ढूँढे जा सकते हैं।

यजुर्वेद – संहिता की दो शाखाएं हैं जो क्रमशः शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद के नाम से विख्यात हैं। उत्तर भारत में अधिक प्रचार शुक्ल का और दक्षिण भारत में अधिक प्रचार कृष्ण यजुर्वेद है। कृष्ण यजुर्वेद में कार्तिकेय, स्कन्द, और गौरी, इन पौराणिक देवताओं का उल्लेख होने के कारण डॉ० मंगलदेव शास्त्री उसे वैदिकेतर धारा से प्रभावित मानते हैं।



गृह सूत्रों के अनेक लेखक दक्षिण भारत के हैं जैसे आपस्तम्ब। धर्मसूत्र के रचयिता सत्याषाढ—हिरण्य केशी मालाबार के थे। इतना ही नहीं वेदों को पुनरुज्जीवित करने वाले महान् पण्डित सायणाचार्य दक्षिण के थे। विष्णु पुराण एवं भागवत पुराण के बारे में ऐसा कहा जाता है कि इनकी रचना दक्षिण में हुई थी। भारवि दक्षिण के थे। भवभूति बरार में जन्मे थे। मुकुन्द माला नायक काव्य के कर्ता कुलशेखर कवि केरल देश के राजा थे। बृहत्कथा के लेखक गुणादय दक्षिण के थे। इसके सिवा, अप्पय दीक्षित, भट्टोजि दीक्षित, मल्लिनाथ, मल्लिनाथ सुत और पण्डितराज जगन्नाथ, ये सब के सब महातेजस्वी, चिन्तक दक्षिण में ही जन्मे थे। इस सूची को भी ज्यादा लम्बा बनाना व्यर्थ है। संस्कृत साहित्य पर जितना ऋण उत्तरवालों का है उतना ही ऋण दक्षिणात्यों का भी है। अब लोग क्षेत्रवाद की बात करते हैं, एक समय था जब सारा भारत संस्कृत को ही अपनी देश-भाषा मनाता था। जब हम संस्कृति की बात करते हैं तो भाषा की बात स्वतः समक्ष उपस्थित हो जाती है। प्रत्येक प्राचीन जाति का संस्कार, उसकी

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 67।

आत्मा और उसके प्राण उसकी अपनी भाषा में बसते हैं। भारत की आत्मा और भारत के सूक्ष्म संस्कारों का निवास संस्कृत में है। संस्कृत इस देश में बसने वालों लोगों की सेवा और नहीं तो तीन-चार हजार वर्ष से करती आयी है। भारत की सभी भाषाएं संस्कृत के घाट पर पानी पीकर आयी है और आज भी उनका उपजीव्य यही भाषा है। भारत की आधुनिक भाषाओं में नये शब्द बनाने की शक्ति समाप्त है। अब भारत की जो भी भाषा नया शब्द खोजती है उसके सामने संस्कृत की ओर जाने के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। इसी संस्कृत पर आधारित होने के कारण भारत की सभी भाषाएं एक हैं क्योंकि उनके शब्द एक हैं, उनकी तर्ज भगिमा और अदाएं एक हैं तथा एक ही सपने का आख्यान अलग लिपियों में करती हैं।

वस्तुतः आर्य एवं द्रविड़ संस्कृति के सेतु के रूप में संस्कृत भाषा का स्थान रहा है या दूसरे शब्दों में दोनों संस्कृतियों के विविक्तकार संस्कृत में सुरक्षित है।

आर्य द्रविण स्वभाव — आर्य और द्रविड़ साहित्य की प्रकृति एक है। उग्र की दृष्टि से संस्कृत बड़ी, भारत की अन्य सभी भाषाएं उससे छोटी बहुत छोटी हैं। यहां तक कि तमिल जो

भारत की अर्वा चीन भाषाओं में सबसे प्राचीन हैं, संस्कृत उससे भी कम से कम दो हजार वर्ष पुरानी है। अतएव भारत को जो कुछ भी कहना था, उसने पहले संस्कृत में कहा। बहुत बाद में जब अर्वाचीन भाषाओं का उदय हुआ, उनमें भी भावानुभूति और चिन्तन की वही प्रक्रिया उद्धृत हो गयी जो संस्कृत में विकसित हुई थी। अतएव, हिन्दू-संस्कृति की मूल भाषा संस्कृत रही। बाकी भाषाओं का एक लम्बा-सा इतिहास केवल संस्कृति की उद्धरणी का इतिहास है।

इस दृष्टि से देखने पर आर्य और द्रविड़ स्वभाव को परस्पर भिन्न बताना निराधार लगता है। कुछ विद्वानों की राय में दोनों संस्कृतियों में भिन्नता है। आर्य एवं द्रविड़ दोनों संस्कृतियों के बराबर मिलने से एक का विश्वास दूसरे का

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 73।

विश्वास बन गया। नदियों के समान प्राचीन संस्कृतियों के उद्गम के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। विशेषतः हिन्दू संस्कृति तो महानद के समान है। उसके भीतर अनेक नदियों का जल समाहित हुआ है। तभी वह इतना विस्तृत और अथाह दिखता है। फिर भी इस महानद को विशेष रूप से पुष्ट बनाने वाली दो महाधाराएं अवश्य हैं, जिन्हें हम आर्य और द्रविड़ विशेषणों के रूप में अवश्य जानते हैं। औसत मुसलमान कवि औसत हिन्दू विचारक होता है। इसी न्याय से हम कह सकते हैं कि आरम्भिक आर्य, आरम्भिक द्रविणों की अपेक्षा भावुक अधिक थे। सभ्यता ज्यों-ज्यों प्रगति करती है, आदमी की चिन्तन-शीलता उसके कवित्व को दबाती जाती है। द्रविण सभ्यता में, आर्यों से आगे थे यानी आर्यों की अपेक्षा वे अधिक प्राचीन थे। अतएव, उनकी कल्पना में चिन्तन भी रीढ़ पैदा हो चुकी थी। आर्य भारत में पहुंचने के पूर्व अधिकतर घुमक्कड़ और मौजी जीव रहे थे, अतएव उनके भीतर यह उत्साह वर्तमान था कि प्रकृति के सौन्दर्य पर चकित हो सके। किन्तु द्रविणों का चिन्तन कवित्व साथ, कदाचित वे सूर्यास्त भी कई बार देख चुके थे, जिसके कारण जीवन की निस्सारता का बोध उन्हें होने लगा था। सभ्यता यदि संस्कृति का अधिभौतिक पक्ष है तो इस पक्ष का अधिक विकास आर्यों ने किया है। इसी प्रकार भारतीय साहित्य के भीतर भावुकता की तरंग, अधिकतर आर्य-स्वभाव के भावुक होने के कारण बढ़ी। किन्तु भारतीय की कई कोमल विशिष्टताएं जैसे अहिंसा, सहिष्णुता और वैराग्य भावना, द्रविण

स्वभाव के प्रभाव से विकसित हुई है। यह देश आर्यों के आगमन से पूर्व से ही अहिंसक, अल्पसंतोषी और सहिष्णु रहता आया था। आर्यों ने यहां आकर भी जीवन की धूम मचा दी। प्रवृत्ति और आशावाद के स्वर से पूरे समाज को पूर्ण कर दिया। किन्तु जब उनका यज्ञवाद, भोगवाद का पर्याय बनने लगा और अभिषप्रियता से प्रेरित ब्राह्मण जीव हिंसा को धर्म मानने लगे इस देश की संस्कृति यज्ञ और जीवघात दोनों से विद्रोह कर उठी। महावीर और बुद्ध भारत की इसी समातन संस्कृति के उद्घोष थे। अति का उत्तर बराबर अति तक पहुंच कर सकता है। यदि आर्यों का यज्ञवाद खुल्लमखुल्ला, जीव हिंसा को

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 70।
2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 71।

औचित्य प्रदान नहीं करता अथवा ब्राह्मण यदि धर्म को अपनी भोग लोलुपता का साधन नहीं बनाते अथवा यदि उन्होंने यह भाव कायम रखा होता कि जन्मना श्रेष्ठ होने के लिए भी ब्राह्मण को ब्राह्मणत्व पर आरूढ़ रहना चाहिए, तो वैदिक धर्म के प्रति उठने वाले विद्रोह करता तक नहीं पहुंचते, न निवृत्तिवादी विचारधारा को उतनी शक्ति प्राप्त होती, जितनी शक्ति उसे जैन और बौद्धमतों से प्राप्त हुई।

वैदिक युग के आर्य मोक्ष के लिए चिन्तित<sup>1</sup> नहीं थे, न वे संसार को असार मानकर उससे भागना चाहते थे। उनकी प्रार्थना की ऋचाएं ऐसी हैं, जिनसे पस्त से वस्त आदमियों के भीतर भी उमंग की लहर जाग सकती है। उन्हें<sup>1</sup> ऋत का ज्ञान प्राप्त हो चुका था और वे मानते थे कि सारी सृष्टि किसी एक ही प्रच्छन्न शक्ति से चालित और ठहरी हुई है तथा उस शक्ति की आराधना करके मनुष्य जो भी चाहे प्राप्त कर सकता है। किन्तु बराबर उनकी प्रार्थना लम्बी आय, स्वस्थ शरीर, विजय, आनन्द और समृद्धि के लिए ही की जाती थी वे जीवेम शरदः शतम् पश्येम शरदः शतम् की कामना करते थे। जिन आर्यों की प्रार्थनाओं में इतनी जीवंतता थी वे ही जैन और बौद्ध मतों के उत्थान के समय भरी जवानी में सन्यास लेने लगे, रक्त-पात से घबराकर युद्ध विमुख होने लगे और खेती करने से कहीं कीट पतंग न मर जाये, इस चिन्ता से कातर होकर कोई और रोजगार ढूंढने लगे।

आर्य कर्म के उपासक थे। कर्म, ज्ञान और भक्ति में से कर्म तो सोलह आने आर्यों की देन है किन्तु ज्ञान और भक्ति का विकास प्राग्वैदिक संस्कृत के प्रभाव से हुआ। सम्प्रति धर्म साधकों में ज्ञान और भक्ति का प्रवाह ही विद्यमान है।

निवृत्ति और अवसाद भारत की सनातन परम्परा में विद्यमान थे। आर्यों के आने के बाद यहां उत्साह एक प्रबल तरंग अवश्य उठी, किन्तु वैदिक आशावाद और उत्साह की प्रबलता चिर स्थायी नहीं हो सकी। जो लोग भी

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 72।
2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 72।

ऋचाएं रचते थे। स्वयं वे ही अवसाद के गीत गाने लगे। भारतीय संस्कृति में कोई अजेय शक्ति है, जिसने पराजय नहीं जानी है। इसी शक्ति के कारण भारत सबको स्वीकार करने के बाद भी भारत ही बना रहता है और जब हम भारत कहते हैं तब हमारा लक्ष्य वह भारत होता है, जिसका मूल प्राग्वैदिक काल भी गहराईयों में छिपा हुआ है। इस भारत ने केवल उन्हें ही नहीं पचाया, जो आर्यों के बाद आये थे, उसने आर्यों को भी पचाकर उन्हें प्राग्वैदिक भारत का अंग बना दिया। भारतीय संस्कृति के प्राग्वैदिक तत्व आज भी उसके वैदिक तत्वों से अधिक प्रबल और प्रसार पूर्ण हैं।

आर्यों का अपना धार्मिक कृत्य होम था।<sup>2</sup> किन्तु आज घर-घर में हवन नहीं पूजा का प्रचार है, जिसमें धूप दीप, अक्षत और नैवेद्य के साथ लोग अपने देवता की आराधना करते हैं, पूजा शब्द की व्याख्या करते हुए डॉ० रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं— अब लोग समझते हैं कि यह शब्द प्राचीन तमिल की दो धातुओं पू और जै (शई) के योग से बना है, तमिल में पू का अर्थ पुण्य कर्म होगा। यहां फिर शोधकर्ता की राय पूज धातु संस्कृत से निकली है, अहिंसा की परम्परा के मूल में द्रविड़ दिखाई देती है क्योंकि हवन पशु कर्म<sup>1</sup> था। संस्कृति के क्रम में वर्ण व्यवस्था एवं जाति विवेचनीय शब्द हैं।

भारतीय साहित्य में 'वर्ण' शब्द का उल्लेख पहले और जाति शब्द का उल्लेख बहुत बाद में मिलता है।<sup>3</sup> इस प्रकार यह अनुमान लगाया गया है कि वर्णों की उत्पत्ति रंगभेद के कारण

हुई होगी किन्तु यह बात सत्य नहीं है। धर्मशास्त्रों में जाति और वर्ण का प्रयोग समानार्थक है और उसका आधार बीज क्षेत्र ही ठहरता है। डॉ० भीमराव अम्बेदकर ने शोधपूर्वक यह मत निरूपित किया है कि वेदों में यह प्रमाणित नहीं होता कि आर्यों का रंग दासों के रंग से भिन्न था। वर्ण का निर्धारण पहले व्यवसाय, स्वभाव, संस्कृति आदि के आधार पर ही था। पीछे जातिवाद के प्रकट होने पर वर्ण का आधार भी बीज क्षेत्र विचार हो गया<sup>1</sup>।

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 72।
2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 73।
3. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 73।

मूल वैदिक काल में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों का वर्गीकरण नहीं हुआ था। यह भी ध्यान देने की बात है कि समस्त ऋग्वेद संहिता में 'शूद्र' और राजन्य शब्द केवल एक बार आये हैं। शूद्र शब्द का यह उल्लेख केवल 'पुरुष-सूक्त' ऋग्वेद में बाद को जोड़ा गया प्रतीत होता है। कोलब्रुक और मैक्समूलर दोनों ही विद्वान यह मानते हैं कि पुरुष-सूक्त, शैली और भाषा दोनों ही दृष्टियों से ऋग्वेद की अपेक्षा बहुत नवीन है। डॉ० मंगलदेव शास्त्री के अनुसार पुरुष-सूक्त, अन्तिम वैदिक की रचना है<sup>2</sup>। इस प्रकार, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातियों के उद्गमों के संकेत तो ऋग्वेद में मिलते हैं। किन्तु शूद्रों उद्गम का क्षेत्र स्पष्ट नहीं हो पाता।<sup>1</sup>

डॉ० अम्बेदकर ने यह स्थापना गलत नहीं की है कि शूद्र उसी भाण्डार के हैं, जिसकी मुख्य शाखा क्षत्रिय आदि के रूप में विकसित<sup>1</sup> हुई।

जब हम ऋग्वेद का अवलोकन करते हैं कि ऋग्वेद काल में शूद्र तिरस्कृत नहीं थे। छांदोग्य उपनिषद् में कथा आई है कि टैक्व ने जनश्रुति को वेद पढ़ाया था किन्तु रैक्व गाड़ी वान, शूद्र थे। डॉ० अम्बेदकर ने कवष एलेषु को शूद्र बताया है।<sup>2</sup> यद्यपि, ऐलुष ऋग्वेद के दशम मंडल के कई मंत्रों के रचयिता थे। महाऐतरेय उपनिषद् के अनुसार भी कावषेय लोग दासी पुत्रों के वंशज थे, किन्तु वे यज्ञों के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन करते थे। वेदकालीन राज्य सूरदास शूद्र थे। वैदिक परम्परा के अनुसार वे राजर्षि विश्वामित्र के संरक्षक थे। सूरदास का राज्याभिषेक वशिष्ठ ने किया था और राजासूदास ने अश्वमेघ यज्ञ किया था<sup>2</sup>। ऋग्वेद में तीन ही वर्ण हैं, शूद्र को चौथे वर्ण के रूप में वहां गिना नहीं गया। शतपथ-ब्राह्मण और वस्तुतः शूद्र भी किसी न किसी प्रकार से द्विज के अंग हैं। जब हम कर्म के आधार पर वर्णों की उत्पत्ति की

बात सोचते हैं तब हम यह पाते हैं कि जातियों को खास धन्धों से बांध देने का रिवाज वैदिक युग के बाद प्रचलित हुआ। द्विज वृत्त के बाहर के लोग कर्मशुद्धि द्वारा द्विज वृत्त में प्रवेश पा सकते थे। मनुस्मृति में विगुण धर्म

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 74।
2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 74।

को दूसरों के धर्म से श्रेष्ठ माना गया है। दूसरों का सुविधाजनक धन्धा अपना कर जीने वाला मनुष्य जाति से च्युत हो जाता है। किन्तु अपनी प्रारम्भिक अवस्था में वर्ण-व्यवस्था में काफी लचीलापन था। एक वर्ण से दूसरे वर्ण में आना-जाना असंभव नहीं था। इतिहास-पुराण में सैकड़ों उदाहरण वर्ण परिवर्तन के मिलते हैं।

पुरुस्वा क्षत्रिय राजा था। गांधि उन्हीं के वंश के थे। किन्तु गांधी की कथा सत्यवती से परशुराम के पितामह ऋचीक ने विवाह किया। इस प्रकार एक ही गांधि के पुत्र विश्वामित्र क्षत्रिय जामाता ऋचीक ब्राह्मण कहे गये हैं। कृष्ण द्वैपायन व्यास की माता सत्यवती धीवर जाति की थी, किन्तु, व्यास क्षत्रिय और ब्राह्मण सब पूजनीय थे। इस सन्दर्भ में अनुलोम और प्रतिलोम शब्द विशेष उल्लेखनीय हैं। उच्च वर्ण के पुरुषों का हीन वर्ण की स्त्रियों से अनुलोम विवाह कहलाता है। और हीन वर्ण के पुरुषों का उच्च वर्ण की स्त्रियों से विवाह प्रतिलोम विवाह। प्रतिलोम विवाह तो, आरंभ से ही, गर्हित समझा जाता था अनुलोम विवाह की पहले निन्दा नहीं थी। अनुलोम विवाह का प्रतिरोध अर्वाचीन है।

इस जातीय विवेचन के क्रम में यह भी उल्लेखनीय है कि वेद तथा यज्ञ के बारे में शूद्र का अधिकार तैत्तिरीय-संहिता के समय में ही अस्वीकृत कर दिया गया था। शूद्र का धर्म द्विजों की सेवा करना था। आरंभ जाति परिवर्तन पर कोई रोक नहीं था। जात-पात की ठीक जात-पात के रूप में स्थापना 10वीं शताब्दी ई0 में हुई।<sup>2</sup> आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुसार पुराने जमाने में इतना बंधेज नहीं था, शूद्र के हाथ पक्वान्न भी ब्राह्मण लोग ग्रहण करते थे<sup>3</sup>। वास्तविक तथ्य यह है कि ब्राह्मण का जितना सम्मान था उसके लिए उतने ही कठोर जीवन की व्यवस्था थी। शास्त्रों में संस्कारों को ऊंचा होने का शास्त्रों में दिखाया गया है— 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्चयते'।

1. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 76।
2. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 80।

महाभारत में कहा गया है – यदि शूद्र में सत्य आदि उपयुक्त लक्षण हैं और ब्राह्मण में नहीं है, तो वह शूद्र, शूद्र नहीं है, न वह ब्राह्मण, ब्राह्मण है। ये सर्प जिसमें मौजूद हों, वह ब्राह्मण माना गया है और जिनमें इन लक्षणों का अभाव हो, उसे शूद्र कहना चाहिए। यह व्यास की आत्मा का स्वर है। यह जाति-प्रथा पर एक ऐसे मनीषी का मत है, जो अपने समय में देवता के समान पूज्य थे।

समन्वय की प्रक्रिया-भारत की अन्य जातियों ने आर्यों के द्वारा चलायी गयी जाति-प्रथा को स्वीकार कर लिया, यह हमारे में संस्कृति-समन्वय की ओर पहला कदम था। इससे इतना हुआ कि आर्य, द्रविण, औट्रिक और नीग्रो तथा सभी मंगोल खानदानों के लोग एक समाज के सदस्य हो गये, जिसका नाम आगे चलकर हिन्दू समाज पड़ा। लेकिन समन्वय की बातें यहाँ नहीं रूकीं और न यही हुआ कि आर्यों ने अपनी संस्कृति बाकी लोगों पर लाद दीं। आर्य अपनी संस्कृति का प्रचार करने को उत्सुक थे, यह ठीक है कि लेकिन सभी जातियों का जब एक समाज हो गया, तब सबकी आदतें, सबके रस्म रिवाज और सबके धर्म एक-दूसरे को प्रभावित करने लगे तथा इस प्रभाव से आर्य भी नहीं बच सके। बल्कि अचरज तो यह है कि आर्य जिन बातों पर खास तौर से जोर देते थे वे बातें पोथियों और पंडितों तक ही सीमित रह गयीं, विशाल जनता ने, अधिकांश में उन बातों को अपना लिया जो बातें द्रविड़ समाज में प्रचलित थीं अथवा जो रिवाज अन्य आर्यतर जातियों के लोगों में चले आ रहे थे। हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति का जो रूप है, उसके भीतर उन बातों की नहीं है जो ऋग्वेद में लिखीं मिलती हैं। बल्कि हमारे समाज की बहुत सी रीतियां और हमारे धर्म के बहुत से अनुष्ठान ऐसे हैं, जिनका उल्लेख वेदों में नहीं मिलता, उनके बारे में विद्वानों का मत है कि या तो वे आर्यतर सभ्यता की देन है अथवा उनका विकास आर्यों के आने के बाद आर्य और आर्यतर सभ्यता की देन है अथवा उनका विकास आर्यों के आने के बाद आर्य और आर्यतर संस्कृतियों के मेल से हुआ है। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी का तो यहाँ तक कहना है कि हिन्दू संस्कृति के आधे से अधिक उपादान आर्यतर संस्कृतियों से आये हैं<sup>1</sup>।

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 85 (महाभारत से उद्धृत)

2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 85 (महाभारत—वनपर्व)



केवल वेदों से हिन्दू धर्म के विकास की सारी समस्यायें हल नहीं होती। उदाहरण के लिए शिव की पूजा हिन्दू समाज के जिस रूप में प्रचलित है, शिव का वह रूप वेद में नहीं मिलता। वेद के रूद्र-शिव प्रकृति के उग्र रूपों की कल्पना पर आधारित है। किन्तु वे भांग और धतुरा क्यों खाने लगे। गजाजिन और मुण्डमाल क्यों पहनने लगे। बैलों की सवारी क्यों करने लगे, सायों को शरीर में क्यों लिपटाने लगे और उनके नाम लिंग की पूजा क्यों चल पड़ी। इन आंकड़ों का समाधान हमें वेदों में नहीं मिलता। अतएव शिव भावना के विकास की कथा को समझने के लिए हमें आर्यों के समाज से बाहर द्रविड़ और औष्ट्रिक समाजों की ओर देखना पड़ता है। इसी प्रकार उमा भी, परमेश्वरी के रूप में, कल्पना उपनिषदों में मिलती है।

सिर्फ यही समझ में नहीं आता कि उनके चामुण्डा काली आदिकाल रूपों की कल्पना कैसे चल पड़ी। सांपों की पूजा, भूत प्रेत और पिशाच का भय नाना प्रकार के टोटके और ऐसी ही अन्य अनेक बातें हिन्दू धर्म में हजारों साल से चिपकी हुई हैं, इनका मूल वेद में नहीं मिलता। यदि देव पूजा में परिवर्तन को देखें तो समन्वय की ओर दृष्टि मुड़ती है। आर्यों के साथ अन्य जातियां भी इस देश में निवास करती थी अतएव एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

आर्य, द्रविड़ साथ रहने लगे। दोनों के बीच का संघर्ष मिट गया। आर्यों की शादियां आर्यतर जातियों से होने लगीं, जो स्त्रियों उनके घर आई वे अपने साथ अपनी जाति का रीति रिवाज भी साथ ले आई। इससे सांस्कृतिक मेल का अवसर मिला काल क्रम में यह सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ हो गया कि सारे देश में आर्य और द्रविड़ का संघर्ष मिट गया। आर्य द्रविड़ में तथा द्रविड़ आर्य में परिवर्तित हुए। इसके साथ भौगोलिक एकता का भी प्रभाव पड़ा। उदाहरणार्थ रामायण में पवित्र धार्मिक स्थान के रूप में अयोध्या, जनकपुर, पंचवटी, रामेश्वरम् को प्रस्तुत किया गया है। उत्तर को आर्यों का देश और दक्षिण को द्रविड़ों का देश समझने का भाव यहां कभी नहीं पनपा। पुराणों में भारत की यह भौगोलिक

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 86।

एकता सर्वत्र दिखती है। उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्<sup>1</sup>। वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।<sup>1</sup>

एक स्थल पर सात नगरों को मोक्ष दायिनी बताया गया है—

अयोध्या—मथुरा—माया—काशी—कांची अवन्तिका, पुरी द्वारावती ज्ञेया सप्तैताः मोक्ष दायिकाः ।<sup>१</sup>

इस धार्मिक एवं सांस्कृतिक एकता का प्रभाव भारत की राजनीति पर भी पड़ा। भारत में राष्ट्रीयता से बढ़कर अन्तर्राष्ट्रीयता का महत्व रहा है। यहां के राष्ट्रीयता के भाव में केन्द्र में संस्कृति और धर्म था, सभी भारतीयों के मन देश का गौरव विद्यमान था।

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्त ते भारत भूमि भागे ।<sup>३</sup> स्वर्गीय वर्गास्पद मार्ग भूते भविन्त भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।

देवगण भी गान करते हैं कि भारत भूमि में जन्म लेने वाले लोग धन्य हैं। स्वर्ग और अपवर्ग—कल्प इस देश में देवता भी देवत्व छोड़कर मनुष्य योनि में जन्म लेना चाहते हैं। हमारी संस्कृति की महानता का रहस्य उसकी सार्वजनीनता में निहित है। हमारे यहां देवताओं की उपासना में भी संस्कृति समन्वय शीलता के दर्शन होते हैं। शिव के स्वरूप में दूसरे संस्कृति का अन्वय स्पष्ट दिखाई देता है। शिव उपासना का सम्बन्ध द्रविड़ संस्कृति से है सिन्धु घाटी सभ्यता से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। गणेश और कार्तिकेय दक्षिण के देवता हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, उसमें अनेक संस्कृतियां मिली हुई हैं, हमने भारतीय संस्कृति के समन्वयशीलता को दिखाने के लिए उपर्युक्त विवेचन किया है। भारत में मुसलमान बाद में आते हैं तथा उनकी संस्कृति भी भारतीय संस्कृति में मिल जाती है।

1. वायु पुराण : पृष्ठ— 25 ।

2. विष्णु पुराण : पृष्ठ— 27 ।

3. विष्णु पुराण : पृष्ठ— 21, 31, 24 ।

भारत की विशेषता है कि जो नवागन्तुक इस देश में बस जाते हैं, उन्हें अपने समाज में खपाने की वह, कोई न कोई राह निकाल लेता है। जब आर्य यहां आये थे, उन्होंने अनेक जातियों को एक समाज में बांधने के लिए जाति की प्रथा निकाली थी पीछे, स्वयं आर्यों का

भारतीयकरण भारत ने उन्हें निवृत्तिवादी बनाकर पूरा किया। किन्तु जाति-प्रथा अब निकम्मी चीज थी। न तो हिन्दू इतने उदार रह गये थे कि मुसलमानों को वे अपनी जाति दीर्घा में बिठा सके, न मुसलमान अपनी इकाई खोने को तैयार थे। निदान, भारत की निवृत्ति इस्लामी तसब्बुफ की राह से हिन्दुओं और मुसलमानों को परस्पर समीप लाने का आन्दोल आरम्भ कर दिया। यहां यह उल्लेख करने योग्य है कि जब सूफी धर्म अपनी बुलन्दी पर था, तब तक भक्ति का आन्दोलन दक्षिण भारत से उत्तर में पहुंच चुका था। इन दोनों आन्दोलनों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की दूरी कम कर दी।

भारत में इस्लाम के दो रूप प्रकट हुए। मुसलमान शासक हिन्दुओं के द्रोही, मन्दिरों के भंजक और प्रतिमाओं के शत्रु थे। लेकिन मुस्लिम सूफी सन्तों हिन्दुओं के प्रति शत्रुता भाव नहीं था। वे हिन्दू और मुसलमान दोनों का एक नये धर्म में दीक्षित करना चाहते थे, जो आत्मा का धर्म था, जो सच्ची मानवता का धर्म था।

सभी सूफीसन्त धर्म के वाह्याचारों और अनुष्ठानों की उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। उनका सारा जोर प्रेम पर था, परमात्मा की भक्ति पर था। इसलिए इस्लामी मुल्ले उनके खिलाफ थे और इसलिए कबीर आदि का विरोध वैदिक धर्म के पंडितों ने भी किया। लेकिन भारतीय जनता का एक वर्ग ऐसा भी था जो वैदिक अनुष्ठानों और आचारों में विश्वास नहीं करता था, जिसके भीतर बहुत दूर, बुद्ध की प्रेरणा काम कर रही थी, जिसने सरहपा-नहपा आदि बौद्धसिद्धों के इस उपदेश को अपना लिया था कि यज्ञ झूठे हैं। पंडितों का आदर करने में कोई पुण्य नहीं है, न एकादशी और मंगल को व्रत रखने से आत्मा का कल्याण होता है। यह विचारधारा अहिंसा को मानती थी। आत्मचिन्तन की प्रक्रिया में विश्वास करती थी और प्रतिमा पूजन तथा तीर्थ यात्रा के विरुद्ध थी।

सूफियों के उपदेश सबसे अधिक इन्हीं लोगों को पसन्द आये और यहां लोग इस्लाम और हिन्दूत्व के बीच प्रथम सेतु हुए। हिन्दू से मुसलमान होने वालों में सबसे अधिक संख्या इन्हीं लोगों की थी और इसी वर्ग के लोग हिन्दू रहकर भी इस्लाम से, विशेषतः उसके सूफी-आन्दोलन से प्यार करने लगे। राजनीति के धरातल पर परस्पर बंटे हुए लोग धर्म के धरातल पर एक होने

लगे। जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर बढ़ने लगी। मुसलमान हिन्दुओं की राम कहानी सुनने को तैयार होने लगे और हिन्दू मुसलमानों की 'दास्ताने-हमजा' हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों के बीच साधुता का सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हो गया। इस सन्दर्भ में अमीर खुसरों की भारत-भक्ति भी उल्लेखनीय है। खुसरों का जन्म 1253 ई० में हुआ था अर्थात् भारत पर इस्लामी राज्य के आरंभ से 61 वर्ष बाद भारत ने उस मुसलमान को जन्म दिया जो हिन्दुस्तान के राष्ट्रवादी मुसलमानों का अग्रणी पुरुष था।

अमीर खुसरों अपने गुरु शेख निजामुद्दीन औलिया के मृत्यु पर कहा था— “गोरी सोवत् सेज पर मुख पर डाले केस, चल खुसरों घर आपने रैन भई चहुं देस।।”

उपर्युक्त दोहे में भारतीय संस्कृति के जिस आधान का रूप विवृत हुआ है उससे यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि भारतीय संस्कृति के गरिमामय प्रकाशन मुसलमानों का अप्रतिम योग है। वह खड़ी बोली के प्रथम पुरोधे है। दिल्ली के आस-पास प्रचलित खड़ी बोली में साहित्य-सृजन का काम, सबसे पहले, खुसरों ने ही आरंभ किया था। उस समय हिन्दू अपना साहित्य डिंगल में लिखते थे। कुछ लोग अप्रभंश का प्रयोग करते थे।

#### 1. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ— 334।

सांस्कृतिक आयाम में उनके अवदान कई रूपों में है। वे संगीत और वाद्ययंत्रों के नूतन आविष्कर्ता थे। उन्होंने अपने मसनवियों में भारत की प्रशंसा लिखी है। वे सच्चे मन से अपने को भारतीय मानते थे। खुसरों ने कहा था भारत मेरी जन्म भूमि है और मेरा अपना देश है। खुसरों की दृष्टि में निम्नांकित बिन्दु अवलोकन करने योग्य है—<sup>1</sup>

1. इस देश के लोगों में ज्ञान और विविध विद्याओं का व्यापक प्रचार है।
2. विश्व की सभी भाषाएं भारतवासी शुद्धता से बोल सकते हैं।
3. ज्ञान सीखने को बाहर के लोगों को भारत आना पड़ता है, किन्तु भारतवासियों को भारत से बाहर नहीं जाना पड़ता।

4. अंकों का विकास भारत में हुआ है। विशेषतः, शून्य का प्रतीक भारत का आविष्कार है। हिन्दसा शब्द हिन्द और असा, इन दो शब्दों के योग से बना है। (खुसरो का ख्याल था कि असा भारत के प्रसिद्ध गणितज्ञ थे)।
5. कलीला व दमना (करटक और दमनक) की कहानी भारत में रची गई और फारसी, तुर्की, ताजी एवं दरी, भाषाओं में उस कहानी का अनुवाद हुआ है।
6. शतरंज के खेल का आविष्कर्ता भारतवर्ष है।
7. भारतीय संगीत अन्य सभी देशों के संगीत से कहीं उच्च कोटि का है।
8. संगीत पर यहां केवल मनुष्य ही न ही झूमते उसे सुनकर हरिण भी झूमने लगते हैं।

खुसरो ने अपनी मसनवी में इस बात की भी चर्चा की है कि भारत में तोते और मैना भी आदमी की बोली बोलते हैं, घोड़े ताल पर कदम उठाते हैं, बकरियां संतुलन के खेल दिखाती हैं और बन्दर रुपये और अठन्नी का भेद बता

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 335।

सकते हैं। भारत को खुसरो ने पृथ्वी का स्वर्ग माना है और लिखा है कि आदम और हौना जब स्वर्ग से निकाले गये, तब वे इसी देश में उतरे थे। भारत के सामने उन्होंने बसरा, सबको तुच्छ बताया है।

इस संदर्भ में तसव्वुफ अथवा रहस्यवाद की चर्चा भी उल्लेखनीय है। यह एक ऐसा धर्म है, जिसमें परमात्मा के ध्यान को महत्व दिया जाता है। इससे हिन्दू एवं मुस्लिम का अन्तर भी समाप्त होता है जैसा पहले उल्लेख किया जा चुका है कि खुसरो निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे अतः सूफी धर्म की भावना उनके रग-रग में धुली हुई थी। इसका प्रभाव उनके राष्ट्रप्रेम तथा मानव प्रेम में संवाहित होता है। तसव्वुफ ईरान ईरानी तसव्वुफ भारतीय वेदान्त के प्रभाव से बढ़ा था। अतएव जब भारत पहुंचा, इस देश में उसे तैयार जमीन मिल गई। यह नया धर्म

बहुत भारतवासियों को परम अनुकूल दिखाई पड़ा। यह उन्हें भी रूचा जो वैदिक धर्म के अनुष्ठानों से विरक्त थे और उन्हें भी जो सामाजिक धरातल पर हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए कोई सम्मिलित राह निकालना चाहते थे। भारत में इस नये आंदोलन के नेता कबीर दास हुए। कबीर की अद्वैतवादी भावना निम्नांकित में ढूँढ़ा जा सकता<sup>1</sup> है—

नाम मैं धर्मी नहीं अधर्मी, ना मैं जती न कामी हो  
ना मैं कहता ना मैं सुनता, ना मैं सेवक स्वामी हो  
ना मैं बंध ना मैं मुक्ता, ना मैं विरतन रंगी हो  
ना काहू से न्यारा हुआ, ना काहू के संगी हो  
ना हम नरक लोक को जाते ना हम सुर्ग सिधारे हो  
सब की कर्म हमारा कीया हम कर्मन ते न्यारे हो।

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पद— 79 ।

यहां 'सर्वखलु इदं ब्रह्म' की ध्वनि है। यही अभेदवाद है। वेद, वर्णाश्रम धर्म और जात-पात का विरोध उन्होंने उसी निर्भीकता से किया जिस निर्भीकता से बुद्ध ने किया था। उन्होंने हिन्दू अनुष्ठानों की भांति इस्लाम के अनुष्ठानों की आलोचना भी समान रूप से की कबीर ब्रह्म के अद्वैत में विश्वास करते थे अतः आडम्बरों का विरोध स्वाभाविक ही था। कबीर के विचारों में ब्रह्म अभेद की भावना निहित है। वे कहते हैं—

मन लागा उनमन्न सौं गगन पहुंचा जाई।<sup>1</sup>  
देख्या चंद उनमन्न सौ गगन पहुंचा जाई।।

कबीर जैसे ब्रह्म ऐक्य को देखने वाले के लिए मानव-मानव भेद का अन्तर निश्चित रूप से खलने वाला है, इसलिए अपनी भाषा में व्यंग्य का प्रयोग किया है। उनका यह व्यंग्य हिन्दू

एवं मुसलमानों के दोषों को व्यक्त करने में पूरी तरह समर्थ है—इसी को देखकर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है— “सच पूछा जाय तो आज तक हिन्दी में ऐसा जबर्दस्त व्यंग्य—लेखक पैदा ही नहीं हुआ। उनकी साफ चोट करने वाली भाषा, बिना कहे भी कुछ कह देने वाली शैली और अत्यन्त सादी, किन्तु अत्यन्त तेज प्रकाश—भंगी अनन्य साधारण है।<sup>1</sup> कबीर की व्यंजना सूफी प्रेम पद्धति के दर्शन होते हैं। उन्होंने प्रेम के प्याले को छक—कर पिया था। कबीर ने प्रेमतत्व को प्रेम की कसौटी पर कसकर ग्रहण किया था। सूफियों की भांति कबीर का अद्वैत क्षणिक नहीं है। उनका प्रेम शाश्वत उनकी भावना एक रस है। कबीर में यदि तड़पन है तो अद्वैतता के लिए। ऐसी तड़पन उन्हें सूफियों के भुवन व्यायी विरह में दिखाई पड़ी थी। इसी बिन्दु पर वे सूफी<sup>3</sup> थे।

हिन्दू मुस्लिम एकता के तीन बड़े नेता, कबीर, अकबर, महात्मा गांधी हुए हैं। कबीर के विषय में संक्षेप में ऊपर प्रकाश डाला गया है। अकबर की दृष्टि में कोई भी एक धर्म सर्व विद्य पूर्ण नहीं था। उनका विचार था कि सभी धर्मों की

1. सं० श्याम सुन्दरदास: कबीर ग्रन्थावली, पृ० - 113।
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० 164।
3. डॉ० रामचन्द्र तिवारी : मध्ययुगीन काव्य—साधना पृ०- 44।

अच्छी बातों को लेकर एक नया धर्म चलाया जाय जिससे सबको संतोष हो सके। अकबर के प्रयास से हिन्दू—मुसलमान एक— दूसरे के पास आये। उनका अन्तर कम हुआ। जहां तक महात्मा गांधी का प्रश्न है उन्होंने हिन्दू—मुस्लिम एकता के लिए अद्भुत प्रयास किया— उन्होंने अल्ला ईश्वर तेरे नाम का नारा लगाया, इस बात का इतिहास साक्षी है कि महात्मा गांधी ने दोनों की एकता अखण्ड प्रयास किया। उनका यह प्रयास सांस्कृतिक मोड़ का एक कदम है।

सांस्कृतिक विकास के क्रम मुस्लिम कवियों का अभूतपूर्व योगदान है, संस्कृति के उद्गम में साहित्य के पुष्प पुष्पित है। जैसे पीछे कबीर के बारे में उल्लेख किया गया है तथा यह बताया गया है कबीर के काव्य में सूफी सिद्धान्त के तत्व सन्निहित है। सूफी सिद्धान्त का प्रतिपादन अनेक मुस्लिम कवियों के काव्य में प्राप्त होता है। इन कवियों में जायसी का महत्वपूर्ण स्थान है। सूफियों की प्रेम पीड़ा जो फारसी भाषा में व्यक्त हो रही थी उसका रूप भारतीय परिवेश में भी अभिव्यक्त हुआ। इन कवियों को हिन्दी में प्रेम—मार्गी कहा गया है जायसी जो प्रेम—मार्गी

कवियों में प्रमुख है उनकी भाषा अवधी है। जायसी ने इस ग्रंथ में भारतीय संस्कृति का जो रूप प्रस्तुत किया है, उसमें भारतीयता के दिव्य दर्शन होते हैं। इस ग्रंथ में विवाह का वर्णन बिल्कुल हिन्दू प्रथा के अनुसार है तथा अलाउद्दीन के स्वागत में जो भोज होता है, उनमें ऐसे किसी भी भोजन का उल्लेख नहीं है, जो हिन्दुओं के लिए अखाद्य हो। इसके सिवा हठयोग, ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार, आदि का जो वर्णन काव्य में आया है। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी का मन इस देश की संस्कृति और परम्परा में किस प्रकार रंगा हुआ था और इतना होने पर भी, जायसी के मुसलमान होने पर कहीं कोई भक्ति से की है, जिस भक्ति से हिन्दू कवि, ग्रंथरूप में अपने इष्टदेव की वन्दना करते थे।

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 343।

जायसी ने प्रेम की जो अविरल व्यंजना की है, उसमें मानवता का सूत्र पिरोया गया है—

मानुष पेम भएउ बैकुंठी। नाहि त काह छार एक मूठी।।'

धरती पर प्रेम की उपस्थिति के कारण संसार स्वर्गीय बन जाता है। यह प्रेम जो मनुष्य को ईश्वर तक पहुंचा देता है, धरती पर परमात्मा का राज्य भी स्थापित करता है। यह प्रेम ही मानव—मानव को जोड़ता है, यहीं से विश्व संस्कृति का उद्भव होता है।

संस्कृति प्रभाव के अन्तर्गत और भी मुसलमान कवियों का अध्ययन महत्वपूर्ण है, क्योंकि भारत इन कवियों ने राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त किया है। इस सन्दर्भ में राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त किया है। इस सन्दर्भ में रामधारी सिंह 'दिनकर' का कथन उल्लेखनीय है। हिन्दू—मुस्लिम—एकता का मार्ग और कोई न ही, भारत की राष्ट्रीयता का मार्ग है। यह राष्ट्रीयता पक्की तभी हो सकती है, जब मुसलमान भी अपने को पक्की तभी हो सकती है, जब मुसलमान भी अपने को भारत माता की सन्तान मानें और अपनी भावनाएं और विचार भाषा अथवा उन



भाषाओं में लिखे जिनमें यहां के और लोग लिखा करते हैं। उर्दू भी भारत की ही भाषा है और वह भारतीय राष्ट्रीयता का समर्थ माध्यम बन सकती है यदि उसके लेखक और कवि अपनी प्रेरणाएं भारत के अतीत और वर्तमान से ग्रहण करें। जैसे कबीर, सुसरो, जायसी, कुतबन, रहीम, रसखान और नजीर अकबरावादी ने ग्रहण की थी। भारतीय राष्ट्रीयता की इस आवश्यकता की अनुभूति सबसे पहले अनुभूति अमीर खुसरो की हुई थी। तत्पश्चात् कबीर, जायसी, कुतबन, मंझन और उस्मान ने खुसरो से शिक्षा लेकर अपना सारा साहित्य अवधी भाषा में लिखा यह परम्पराम इन लोगों तक नहीं रूकी। उनके बाद भी हिन्दी ने अनेक मुस्लिम कवि उत्पन्न किये जिनकी रचनाएं हिन्दी साहित्य की कीमती थाती के रूप में विद्यमान है। कतिपय कवियों की पंक्तियों की उदाहृति के द्वारा इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है। मुसलमान कवियों

1. सं० डॉ० माता प्रसाद गुप्त : पद्मावत, पृ०- 44।

रहीम का नाम बड़े आदर के साथ लिया जा सकता है। तुलसी के वचनों के समान रहीम के वचन भी हिन्द भाषी भूभाग में सर्व साधारण के मुंह पर रहते हैं। भाषा पर तुलसी का सा अधिकार रहीम का भी है। हिन्दू दर्शन तथा अलंकार शास्त्र का उन्हें उतना ही अच्छा ज्ञान था जितने अच्छे ज्ञान का दावा बड़े से बड़ा हिन्दू विद्वान कर सकता है। अपने धर्म और आध्यात्मिक विश्वास पर सुदृढ़ रहते हुए भी मुसलमान कितना अधिक भारतीय हो सकता है, रहीम इसके जाज्वल्यमान प्रमाण है। एक बार तुलसीदास ने निम्नलिखित पंक्ति लिखकर खानखाना के पास भेजा:<sup>1</sup>

सुरतिय नरतिय नागतिय सब चाहत अस होय।

गोंद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय।।

रहीम ने हिन्दू कवियों की भांति उपदेश की बातें कहीं है।

रहिमन विद्या बुद्धि नहिं, धरम<sup>2</sup> जस, भूपर जनम वृथा धरै, पसु बिनु दानु पूंछ विषान।

इस बात को संस्कृत भाषा में इस प्रकार कहा गया है— साहित्य संगीत कला विहीनः । साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः, इससे रहीम के सांस्कृतिक बोध का पता चलता है । इसी प्रकार उनका नीतिविषयक यह दोहा भारतीय संस्कृति के अनुकूल है—

रहिमन विपदाहू भली, जो थोर दिने होय<sup>3</sup>, हित अनहित या जगत में जानिपरत सब कोय ।  
वस्तुतः रहीम हिन्दू संस्कृति के उन तत्वों का संस्पर्श करते हैं जहां उनकी भारतीयता विवृत होती है ।

1. विद्यानिवास मिश्र : रहीम ग्रन्थावली, पृ० 44 ।
2. विद्यानिवास मिश्र : रहीम ग्रन्थावली, पृ० 95 ।
3. विद्यानिवास मिश्र : रहीम ग्रन्थावली, पृ० 45 ।

रहीम कौतुकी रचनाएं भी करते थे । इन कैतुकी रचनाओं में शुद्ध संस्कृति और खड़ी बोली का मेल है<sup>1</sup>—

दृष्टा तत्र विचित्रता तरुलता मैं था गया बाग में ।  
काचित्तत्र कुरंगशाव नयना, गुल तो तोड़ती थी खड़ी ॥

उन्मद् भूधनुषाकटाक्ष विशिः, घायल किया था मुझे ।  
तत्सीदामि सदैव मोह जलघौ, हे दिल गुजारो शुक ॥

अर्थ: विचित्र वृक्षलता को देखने के लिए मैं बाग में गया था । वहां कोई मृग—शावनि—नयनर खड़ी फूल तोड़ रही थी । भौं रूपी धनुष से कटाक्ष रूपी वाण चलाकर उसने मुझे घायल किया था । तब मैं सदा के लिए मोहरूपी समुद्र में पड़ गया । इससे हे हृदय, धन्यवाद दो ।

रहीम ने “खेट—कौतुक—जातकम्” अपने ज्योतिष ज्ञान को दर्शाया है—<sup>2</sup>

यदा मुस्तरी ककटे वा कमाने, यदा चश्म खोर जमीवास माने,  
तदा ज्योतिषी क्या कहै क्या पढ़ैगा? हुआ बालका पादशाही करेगा ।

भारतीय ज्योतिष हमारे संस्कृति की अभिन्न है उसे भी इस मुसलमान कवि ने प्रौढ़ता पूर्वक अभिव्यक्त किया है। वस्तुतः हिन्दू संस्कृति की समरसता मुसलमान कवियों साम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर कर व्यक्त किया है।

उपर्युक्त कवियों की भांति अनीस, अहमद, कमाल, जमाल, जलालुद्दीन, ताज, तानसेन, नेवाज, आलम, शेख, मुबारक, रसलीन ने भारतीयता को प्रतिबिंबित किया है। समस्त कृष्ण काव्य के बीच रसखान के कवित्त और सवैये हीरे-मोती की भांति चमकते हैं रसखान के परिचय के पूर्व ताज का जिक्र करना अनिवार्य है। ताज का जन्म 1643 ई० में हुआ था। वे इतनी भावुक थीं कि कृष्ण प्रेम के उत्साह में आकर वे यह भी बोल गयीं कि मैं इस्लाम छोड़कर हिन्दू हो जाने को तैयार हूँ। ताज मुसलमान थीं और मुसलमान रहीं थी। किन्तु कृष्ण

1. सं० डॉ० विद्यानिवास मिश्र : रहीम ग्रन्थावली, पृ० 165।
2. रामधारी सिंह 'दिनकर' : संस्कृति के चार अध्याय, पृ० 353।

काव्य की महिमा दिखाने के उत्साह में उन्होंने जो कुछ कहा, वह केवल असाम्प्रदायिक कवि ही कह सकता था। ताज का कवित्त इस प्रकार है—<sup>1</sup>

सुनो दिल जानी मेरे दिल की कहानी, तुम दस्त ही विकानी,  
बदनामी भी सहौंगी मैं, देव पूजा ठानी मैं निवाज हूँ भुलानी,  
तजे कलमा-कुरान, सारे गुनन कहौंगी मैं,  
स्यामला सलोना सिर ताज सिर कुल्ली दिये  
तेरी नेह आग में निदाग हो दहोगी मैं।  
नन्द के कुमार कुरबान ताड़ी सूरत पे, ताड़ नाल प्यारे,  
हिन्दुवानी हो रहौंगी मैं।<sup>1</sup>

उपर्युक्त पंक्तियों की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। कवियित्री ने अपने को श्रीकृष्ण को समर्पित कर दिया है। सांस्कृतिक अन्वय का इससे अच्छा उदाहरण क्या दिया जा सकता है?

रसखान माधुर्य भाव के कृष्ण के भक्त हैं। उनकी कविताएं मुख्यरूप से दो ग्रंथों प्रेमवाटिका तथा सुजान रसखान में संकलित हैं। पहले में दोहे तथा कवित्त-सवैया हैं। ये कृष्ण के प्रेम में इतने पागल हैं कि श्रीकृष्ण भी पावना भूमि में अपना निवास बनाना चाहते हैं—

मानुष हौं तो वहीं रसखानि बसौं व्रज गोकुल गांव के ग्वारन।

जो पुश हैं तो कहा बस मेरो चरौं निल नन्द की धेनु मंझारन॥

पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छम पुरन्दर धारन।

जौ खग हौं तो बसेरे करौं मिलि कलिंदी कूल कदम्ब की डारन॥

1. रामधारी सिंह 'दिनकर' संस्कृति चार अध्याय पृ0 354।
2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास के पृष्ठ 129 से उद्धृत।

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूं पुर को तजि डारौं।

आठहुं सिद्धि नवो निविध के सुख नन्द की गाय चराड़ बिसोरौं॥

रसखानि कबौं इन आंखिन सो व्रज के बन बाड़ा तड़ाग निहारौं।

कोटिक ए कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥<sup>2</sup>

जहां तक संस्कृतिक अन्वय का प्रश्न है यहां अपने उत्कृष्टतम रूप में व्यक्त हुआ है। रसखान को माधुर्य भाव कितना प्यारा है, इसका अनुमान निम्नांकित पंक्तियों को पढ़कर लगाया जा सकता है—

ब्रह्म में ढूढ्यो पुरानन गानन, वेद रिचा सुनि चौगुने चायन,

देख्यो सुन्यो कबहुं न कितू वह कैसे सरूप और कैसे सुभायन।

टेरत हेरत हारि पर्यो, रसखानि बतायो न लोग लुगायन,

देखौ दुरौ वह कुंज कुटीर बैठो पलोटत राधिका पायन।।<sup>१</sup>

सांस्कृतिक परिवेश की अभिव्यक्ति काव्य में होती है। काव्य सांस्कृतिक परिष्करण का मोती है। रसखान के काव्य में प्रेम एवं रूप की प्यास भारतीय संस्कृति की मधुमती पुकार है।

रसखान प्रेम को एक शिखा के रूप में देखते हैं जो वियोग के ताप में सुलगती रहती है। खौलते हुए स्नेह में तपती रहती है, थोड़ी-थोड़ी भीतर भभकती भी रहती है। पर जब प्रिय के आने की बात सुनती है तो जैसे कोई बाती उकसा दे वैसे जल उठती है। तब भीतर की आग बाहर प्रकाश बन जाती है।

वस्तुतः रसखान के भीतर जो प्रेम का प्रवाह है, सार्वभौतिक प्रेम तुमुलनाद है।

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल: हिन्दी साहित्य का इतिहास पुष्ठ 129 से उद्धृत।

## अध्याय-1

### संदर्भ-ग्रन्थ :-

- क्रमांक
- पृष्ठ - 1
1. तुलसीदास : रामचरितमानस, किष्किन्धा काण्ड
  2. मनोविज्ञान परिचय भाग-दो-एन0सी0आर0टी0 पृ0 35
  4. तैत्तिरीयोपनिषद्-द्वितीय अध्याय-गीता प्रेस, पृ0 375
  4. मनोविज्ञान परिचय भाग-दो-एन0सी0आर0टी0 पृ0 36
  6. डॉ0 आबिद हुसैन : भारतीय संस्कृति, पृ0 3
  7. डॉ0 एस0आबिद हुसेन : भारतीय संस्कृति, पृ0 4
  9. डॉ0 द्वारिका प्रसार सक्सेना, कामायनी में काव्य संस्कृति और दर्शन, पृ0 279
  9. 8. " " पृ0 279
  9. 9. " " पृ0 279
  9. 10." " पृ0 280
  9. 11. डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल-कला और संस्कृति, पृ0 1
  9. 12. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी-विचार और वितर्क, पृ0 181
  10. 13. डॉ0 सत्यकेतु विद्यालंकार:भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृ0 20
  10. 14. डॉ0 रामजी उपाध्याय: भारत की प्राचानी संस्कृति, पृ0 2
  10. 15. रामधारी सिंह दिनकर-संस्कृति के चार अध्याय, पं0 653
  13. 16. कठोपनिषद् : प्रथम बल्ली
  14. 15. ऋग्वेद : प्रजापति सूक्त
  15. 16. पाणिनीय शिक्षा, पृ0 41-42
  17. 17. आचार्य बलदेव उपाध्याय: आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ, पृ0 78
  17. 18. वृहदारण्यक उपनिषद् : द्वितीय अध्याय : पंचम ब्राह्मण ।

- 18 19. आचार्य बलदेव उपाध्याय : आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ,  
पृ0 193
- 18 20. वही वही
- 19 21. पुरुष सूक्त मंत्र-2, ऋग्वेद
- 19 22. आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ, पृ0 194
- 19 22. डॉ0 बलदेव उपाध्याय : आर्य संस्कृति के आधार ग्रंथ,  
पृ0 196
- 20 23. रामधारी सिंह दिनकर:संस्कृति के चार अध्याय, पृ0 125
- 20 24. वही वही
- 21 25. वृहदारण्यक उपनिषद, पृ0 5, 19
- 21 26. भगवद्गीता : षष्ठ अध्याय श्लोक-5
- 22 27. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र:रसखान ग्रंथावली, पृ0 110
- 22 28. रामधारी सिंह दिनकर-'संस्कृति के चार अध्याय, पृ0 134
- 23 29. रामधारी सिंह दिनकर:संस्कृति के चार अध्याय, पृ0 115
- 24 30. डॉ0 नीलकण्ठ शास्त्री-'दक्षिण भारत का इतिहास, पृ0 1
- 24 31. राधारी सिंह, 'दिनकर' संस्कृत के चार अध्याय, पृ0 64
- 25 32. वही वही
- 26 33. वही वही
- 28 34. वही वही
- 28 35. वही वही
- 29 36. वही वही
- 30 37. वही वही
- 31 38. वही वही
- 32 39. वही वही
- 32 40. वही वही
- 33 41. वही वही
- 33 42. वही वही

- 34 43. वही वही
- 34 44. वही वही
- 34 45. वही वही
- 35 46. वही वही
- 36 47. वही वही
- 37 48. वायुपुराण, पृ0 25
- 37 49. विष्णुपुराण, 2/3/24
- 38 50. रामधारी सिंह 'दिनकर' संस्कृत के चार अध्याय, पृ0 333
- 39 51. वही वही
- 40 52. वही वही
- 41 53. सं. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी—कबीर वाणी, पृ0 79
- 42 54. कबीर ग्रन्थावली, पृ0 113, साखी, 15 (परचा को अंग)
- 42 55. डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी — 'कबीर', पृ0 164
- 42 56. डॉ0 रामचन्द्र तिवारी—मध्ययुगीन काव्य साधाना, पृ0 44
- 43 57. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृत के चार अध्याय, पृ0 343
- 43 58. डॉ0 माता प्रसाद गुप्त : पद्मावत, पृ0 44
- 44 59. रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृत के चार अध्याय, पृ0 351
- 45 60. विद्यानिवास मिश्र : रहीम ग्रन्थावली, पृ0 44 ।
- 45 61. वही वही
- 45 62. वही वही
- 46 विही वही
- 46 रामधारी सिंह दिनकर : संस्कृत के चार अध्याय, पृ0 353
- 47 वही वही
- 48 आचार्य रामचन्द्रशुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 129
- 48 आचार्य रामचन्द्रशुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 129



